# राग अशेष

# राग अशेष

*भावांकन*

**डॉ. कुमार अरुणोदय**

*संपादन*

**रविराज पटेल एवं शैलेन्द्र कुमार**

प्रभात
पेपरबैक्स
www.prabhatbooks.com

*प्रकाशक*

**प्रभात पेपरबैक्स**

4/19 आसफ अली रोड, नई दिल्ली-110002

फोन : 23289555 • 23289666 • 23289777 ❖ फैक्स : 23253233

इ-मेल : prabhatbooks@gmail.com ❖ वेब ठिकाना : www.prabhatbooks.com

*संस्करण*

प्रथम, 2017

*सर्वाधिकार*

सुरक्षित

*मूल्य*

दो सौ पंचानबे रुपए

अ.मा.पु.स. 978-93-86300-03-4

*मुद्रक*

आर-टेक ऑफसेट प्रिंटर्स, दिल्ली

**RAAG ASHESH**

*Ed.* Raviraj Patel

Published by **PRABHAT PAPERBACKS**

4/19 Asaf Ali Road, New Delhi-110002

ISBN 978-93-86300-03-4

₹295.00

माँ को
जिनकी स्मृति में
एक अशेष राग है।

# दो शब्द

शब्द ही ब्रह्म है। उसकी ही सत्ता है। सम्पूर्ण जगत शब्दमय है। शब्द की ही प्रेरणा से समस्त संसार गतिशील है। मन की गति शब्द पर निर्भर है। सारी स्मृतियाँ, कल्पनाएँ तथा चिन्तन शब्द के माध्यम से चलते हैं। जो कुछ भी बोला अथवा सोचा जाता है वह तुरन्त समाप्त नहीं हो जाता, सूक्ष्म रूप में अन्तरिक्ष में विद्यमान रहता, तरंगित होता रहता है। हजारों–लाखों वर्षों तक ये कम्पन उसी रूप में रहते हैं। शब्द चमत्कार से भरा होता है। यह भावना को मूर्तरूप देकर साकार करता है। बोलते समय उचित शब्द का चयन करना किसी साधना से कम नहीं है। अर्थवान शब्द की अपार शक्ति होती है। शब्द संस्कार होता है जिसकी अपनी एक पहचान होती है। हमें यत्न यही करना चाहिए कि शब्द का सही उपयोग किया जाए।

तमाम जीवों में अपनी बात कहने के लिए शब्दों की शक्ति केवल मनुष्य के पास है, शब्द की इस अमोघ शक्ति का प्रयोग केवल और केवल मनुष्य ही कर सकता है। दुनिया के तमाम प्राणियों यहाँ तक की देवताओं के पास भी शब्द की यह शक्ति नहीं है, वे अपनी बात कहने के लिए ध्वनि और संकेत मुद्रा का उपयोग करते हैं। लेकिन आदमी शब्द का उपयोग न केवल बोलने में अपितु लिखने–पढ़ने और संचार–संदेश के माध्यम से सुदूर दुनिया में किसी कोने तक पहुँचा सकता है। दुनिया के सभी शास्त्र, साहित्य, इतिहास, पुराण और ग्रन्थ

इसी शब्द सम्पदा की देन है। लेकिन आदमी जब उसका प्रयोग किसी के प्रति अपने द्वेष–ईर्ष्या, कुण्डा अथवा क्रोध के लिये इस्तेमाल करता है तो वह शब्द की इस ईश्वरीय शक्ति का दुरूपयोग ही करता है। "ऐसी बानी बोलिये मन का आपा खोय, औरन को शीतल करें आपुहू शीतल होय"।

मुझे हर्ष है कि डॉ. कुमार अरुणोदय शब्द के सार्थक उपयोग की दिशा में निरंतर सक्रिय रहे हैं। इनकी पुस्तक 'राग अशेष' व्यक्ति, समय, समाज और संस्कृति के प्रति उनके मनोभावों को अभिव्यक्त करती है।

हार्दिक शुभकामनाएँ!

**–डॉ. चन्द्र प्रकाश द्विवेदी**

फिल्मकार

# लेखक की सकारात्मक यात्रा को स्थापित करती है 'राग अशेष'

इस पुस्तक का नाम 'राग अशेष' है। नाम के अर्थ में जाइये तो कथ्य के निःसीम होने का भाव होता है। जीवन की छोटी-छोटी घटना, कामना, भावना यदि सर्जना का माध्यम बने तो वह आत्मीय भाव जगाती है। एक बार मेरी अनपढ़ ग्रामीण भाभी ने कुछ मैथली कथा आकाशवाणी से सुनकर मुझसे कहा था कि उनके मन में भी ऐसी कथा उपजती है पर वह कैसे लिखे? पढ़ी लिखी तो हैं नहीं। उनसे मैंने क्या-क्या कहा वह यहाँ बताने की आवश्यकता नहीं समझती, परन्तु यह कहना जरूरी समझती हूँ कि राग अशेष की चुटीली अभिव्यक्तियाँ कईयों की निजी अनुभूतियाँ होंगी। विधा के रूप इसे किस खांचे में डालेंगे विचारणीय है। लघु-कथा तो है ही पर सहज जीवन से, गद्य-कथा तो लय से भरपूर है। दर्शन है, काव्य है, जिजीविषा है, निःसंग सी एक लिप्ति भी है। एक ऐसी रचनात्मकता जो विभिन्न रंग जाति के फूल-पत्तीमय गुलदस्ते की हो। एक जलरंग के चितेरे की हो। ऐसी एक पोथी जिसे हाथ में लेने के बाद छोड़ने का मन न करे, जिन्हें आप पढ़कर कईयों को सुना सकें, सुनाने का जी करे।

आज के अर्थयुग में डॉ. अरुणोदय लिखते हैं ''जामे कुटुम समाय'' —भूखे को खिलाने पर जोर देते हैं। ग्रामीण संस्कृति याद करने

का अर्थ है माँ को याद करना, माँ या माँ की माँ ने बसियौरा खिलाया होगा। बासी पिठ्ठा या पुआ, मालपुआ जिसका स्वाद जीभ की नोंक पर बसा रहता है। सड़क यातायात में आज कौन शहर न फंसा होगा तो 'कारज धीरे होत' में इन्होंने उस अब की पड़ताल कर ली है।

''जो तोको काँटा बुवै'' रिश्वत रिश्ता छोड़ का'' जैसे छोटे-छोटे गध खंड सबके जीवन का सत्य है। सबके घर में बुजुर्ग है या वे स्वयं हैं। इन सभी सोंचनीय विषय के बाद यह भी तो परम सत्य है कि मनुष्य जीता क्यों है? लेखक की नजर में क्या है जो 'जनम कृतारथ करता है? तो वह शाश्वत प्रेम है जिसके लिए इनसान जीता और मरता है। वह भी 'दांपत्य प्रेम' लेखक की दृष्टि में उत्कृष्ट प्रेम है।

यात्रा इनकी जारी। यह यात्रा लेखक की सकारात्मकता को स्थापित करती है। जैसे सागर से वाष्प, वाष्प से वर्षा पुनः सागर तक आगमन एक आवृति है वैसे ही मनुष्य और मिटटी की आवृतियाँ हैं। इतनी सी आयु में दिव्यज्ञान का उपयोग है।

लेखक के लिए शुभकामना सहित

**–डॉ. उषा किरण खान**

(पद्मश्री सम्मान से विभूषित लेखिका)

# डॉ. कुमार अरुणोदय : एक भावुक समाज-शिल्पी

लेखक, कवि, संगीतज्ञ और समाज-सेवी डॉ. अरुणोदय ने अपने दृढ संकल्प और अथक प्रयास से राष्ट्रीय स्तर पर महिलाओं, समाज के पिछड़े वर्ग के बच्चों तथा वृद्धों को विकास की मुख्य धारा से जोड़ने का प्रशंसनीय प्रयास किया है। बिहार प्रान्त के सीतामढ़ी जिले का यह लाल पूरे देश के नभोज्ज्वल भाल पर अपनी प्रतिभा की अरुणाई बिखेर रहा है। तरुणाई में ही वास्तु और शिल्प के क्षेत्र में अपना लोहा मनवा लेने वाले श्री अरुणोदय सहृदय व्यक्ति और भावुक साहित्यकार होने के साथ ही अत्यंत लगनशील और समर्पित समाज-सेवी हैं। साहित्य-सृजन, वास्तु- शिल्प, रंगमंच, क्रीड़ा, शिक्षा, संगीत और समाज-सेवा आदि में उनकी खास लगन है और ये ही उनके अध्ययन, मनन, अनुसंधान एवं सृजन के क्षेत्र हैं। इन विविध क्षेत्रों में उनकी इस क्रियाशीलता के केन्द्र में उनकी वह सघन भावुकता है, जो एक ओर उन्हें अपनी परंपरा से जोड़े रखती है और दूसरी ओर स्वयं के उच्चादर्शों के अनुरूप सुनहरे समाज के निर्माण की ओर प्रेरित करती है।

यदि तटस्थता पूर्वक कहा जाए तो डॉ. अरुणोदय वास्तव में समाज-सेवी से कहीं अधिक समाज-शिल्पी हैं। उनके भीतर किसी कोने में

उनकी सोच और कल्पना का एक वर्ग-विहीन, भेदरहित, स्वतंत्रता, समता और बन्धुत्वमय समाज अवस्थित है, जिसे वे वस्तुतः साकार करना चाहते हैं और यहीं से उनके चिंतन, सृजन और क्रियात्मकता की त्रिवेणी फूटती है। उनके व्यक्तित्व और साहित्य के अनुशीलन से ऐसा प्रतीत होता है कि वे अपने स्वप्न को सच में तब्दील करना चाहते हैं और इसके लिए हर वह मार्ग, जो उन्हें समीचीन प्रतीत होता है, उसे अपना लेते हैं। कमंडल का बोझ ढोने से यदि अंजुरी गंगाजल से भर जाए तो इससे ज्यादा खुशनसीबी भला क्या हो सकती है। कदाचित अपनी इसी मंशा के कारण कुमार अरुणोदय जवाबदेहियों से बोझिल होने पर भी सदैव तरोताजा दिखते हैं।

वर्तमान में वे आचार्य सुदर्शन फॉउन्डेशन (पटना) के प्रबंधकीय न्यासी, 'आत्मकल्याण केन्द्र (गुडगाँव) के न्यासी, 'हमें भी पढ़ाओं के सचिव 'आचार्य श्री सुदर्शन कृष्णा निकेतन' (पटना) के उपाध्यक्ष, 'अनहद' (पटना) तथा बिहार महिला फुटबॉल संघ के अध्यक्ष, 'बिहार न्यूनतम मजदूरी परामर्शदातृ परिषद (बिहार सरकार) तथा 'बिहार हिन्दी साहित्य सम्मेलन' (पटना) के सदस्य एवं 'सिनेयात्रा' के संरक्षक के रूप में अपनी तमाम जिम्मेदारियों का बखूबी निर्वाह करने में प्राणपण से जुटे हुए हैं। इनमें 'आचार्य सुदर्शन फाउंडेशन' ग्रामीण बच्चों की शिक्षा को समर्पित संस्था है, जो बिहार के ग्रामीण क्षेत्रों में विद्यालय खोलकर गाँव के बच्चों को शिक्षित करने का महत कार्य करती है, जबकि 'आत्मकल्याण केन्द्र' का मूल उद्देश्य दलित और पिछड़े वर्ग के स्त्री-पुरुषों को आत्मजागरित करना तथा उन्हें नशा और गरीबी के दलदल से बाहर निकालना है। इस कड़ी में 'हमें भी पढ़ाओं' निःशुल्क शैक्षिक आन्दोलन का अपना अलग महत्त्व है। क्योंकि यह संस्था गरीब एवं उपेक्षित वर्ग के बच्चों को शिक्षा के माध्यम से समाज की मुख्य धारा से जोड़ने का भगीरथ प्रयास कर रही है।

'आचार्य श्री सुदर्शन कृष्णा निकेतन' बिहार का लब्धप्रतिष्ठ बालिका विद्यालय है, जो +2 स्तर तक सी. बी. एस. ई. (दिल्ली)

से संबद्ध है और पिछले दो दशकों से बालिकाओं की शिक्षा और संस्कार के विकास को समर्पित है। 'अनहद' का उद्देश्य पुरातन भारतीय लोककला व संस्कृति के पुनरुत्थान में युवाओं की भागीदारी सुनिश्चित कराते हुए प्राचीन कलाओं एवं संस्कृति का संरक्षण है, तो 'सिनेयात्रा' सकारात्मक चलचित्रों के निर्माण और प्रदर्शन के माध्यम से युवाओं में साहित्यिक, सांस्कृतिक एवं कलात्मक सजगता का अलख जगाने हेतु संकल्पित है।

"बिहार महिला फुटबॉल संघ" राज्य की महिला खिलाड़ियों के उत्थान हेतु प्रतिबद्ध संस्था है तो 'बिहार हिन्दी साहित्य सम्मेलन' राज्य की साहित्यिक प्रतिभाओं को समुचित मान-सम्मान दिलाने की दिशा में संकल्पित है।

डॉ. अरुणोदय बिहार सरकार के ' न्यूनतम मजदूरी परामर्शदातृ पर्षद' के सदस्य के रूप में बिहार के श्रमिकों के कल्याण-कार्य में सेवारत हैं। अपनी अक्षुण्ण समाज-कल्याण-कामना और सेवा भावना के कारण श्री कुमार जहाँ एक ओर निरंतर चर्चित रहे हैं, वहीं दूसरी ओर पुरस्कृत और प्रशंसित भी हीते रहे हैं। हाल ही में इनका मनोनयन 'लार्ड बेडेन पॉवेल राष्ट्रीय पुरस्कार-2016' हेतु किया गया है। 'स्काउट्स एवं गाइड्स आर्गेनाइजेशन' की ओर से दिया जाने वाला यह प्रतिष्ठित पुरस्कार बिहार राज्य में शिक्षा के क्षेत्र में इनके उल्लेखनीय योगदान के लिए 22 फरवरी, 2016 को इन्हें प्रदान किया गया। गरीब एवं उपेक्षित बच्चों के कल्याण हेतु उत्कृष्ट कार्य करने पर 'इंटरनेशनल ओपन यूनिवर्सिटी', कोलम्बो द्वारा इन्हे डॉक्रेट की मानद उपाधि से सम्मानित किया जा चुका है और यह उपाधि डॉ. अरुणोदय को श्रीलंका के तत्कालीन प्रधानमंत्री श्री. डी. एम. जयरत्ने के हाथों प्रदान की गयी। कुमार अरुणोदय इससे पूर्व 30 जुलाई 2011 में नेपाल के उप प्रधानमंत्री के हाथों काठमांडू में भी सम्मानित हो चुके हैं। इस अवसर पर इन्हें 'गोल्ड स्टार एशिया इंटरनेशनल अवार्ड - 2010 प्रदान किया गया।

झुग्गी–झोपड़ी में गुजर करने वाले बच्चों की शिक्षा के प्रति श्री कुमार के मन में रुचि तब पैदा हुई, जब वे बैंगलोर में उच्च तकनीकी शिक्षा हासिल कर रहे थे। तब से अब तक वे इस दिशा में पूरे मनोयोग से समर्पित हैं। 'हमें भी पढ़ाओं' मुफ्त शैक्षणिक अभियान के प्रति उनकी निष्ठा और समर्पण के फलस्वरूप ऑल इंडिया बिजनेस एंड कम्युनिटी फाउंडेशन ने अप्रैल 2011 में इन्हें शिक्षा–भारती अवार्ड से सम्मानित किया और उससे पूर्व अपने इस अवदान के कारण जनवरी 2005 में वे दिल्ली में 'एक्सीलेंस अवार्ड ऑफ पर्सनल अचीवमेंट' से पुरस्कृत किये गये। इनकी साहित्यिक उपलब्धियों को ध्यान में रखकर 'कविवर गोपाल सिंह नेपाली फाउंडेशन' ने इन्हें युवा साहित्यकार की उपाधि से सम्बोधित करते हुए हाल में पटना के आई. आई. बी. एम. सभागार में 'साहित्य भूषण' से विभूषित किया है।

शिक्षा को सामाजिक विकास का मुख्य आधार मानकर इन्होंने देश के कई शहरों में युवाओं एवं शिक्षकों के प्रशिक्षण हेतु कार्यशाला एवं गोष्ठियों का आयोजन किया है। इनके इस विश्वास एवं कार्यशैली से एमिटी यूनिवर्सिटी ने इन्हें रिसोर्स पर्सन के पद पर नियुक्त किया है। हाल ही में केन्द्रीय विद्यालय संगठन मुम्बई द्वारा आयोजित शिक्षक प्रशिक्षण कार्यक्रम में इन्हे मुख्य प्रेरक वक्ता के रूप में आमंत्रित किया गया था, जहाँ सात विभिन्न राज्यों से आये शिक्षक प्रशिक्षण प्रतिनिधियों ने हिस्सा लिया। प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली द्वारा प्रकाशित 'भावाशेष' इनकी अत्यंत ख्यात रचना है, जिसमें इन्होंने अपनी दिवंगत माता के नाम श्रद्धांजलि में अपने अशेष भावों को व्यक्त किया है। इनकी लिखी कई पुस्तकें अभी प्रकाशन हेतु प्रतीक्षा में है। इन्होंने कई चैनलों यथा दूरदर्शन, जी पुरवईया और डी. डी. बिहार पर सामाजिक सरोकार से जुड़े मामलों पर अपने विचार रखे हैं। कुमुदिनी एडुकेशनल एण्ड चैरिटेबल ट्रस्ट, बिहार यूथ फ़ोर्स, एमिटी पटना, सन्मार्ग, के. वि. संगठन जैसी कई संस्थाओं ने इन्हें अपने कार्यक्रमों में मुख्य अतिथि वक्ता के रूप में आमंत्रित किया है। शिक्षकों एवं युवाओं को सामाजिक एवं राष्ट्रीय

संसाधन के रूप में विकसित एवं प्रोत्साहित करने से जुड़े राष्ट्रीय स्तर के कार्यक्रमों में इनकी सक्रिय सहभागिता रही है। सामाजिक विकास में युवाओं के योगदान एवं उनकी भागीदारी सुनिश्चित करने एवं उनसे संवाद स्थापित करने हेतु इन्होंने देश-विदेश की यात्राएं की हैं।

वस्तुतः डॉ. अरुणोदय एक आस्थावान व्यक्ति हैं। घर-द्वार, पूर्वज और परिवार उनके लिए अत्यंत महत्वपूर्ण हैं, किन्तु मित्र और सहयोगी, कलाकार और शिक्षाविद, साहित्यकार और समाजसेवी, बच्चे और विद्यार्थी भी उनके लिए कतिपय कम महत्त्व के नहीं। सबों के लिए यथासंभव समय और साधन उनके पास उपलब्ध हैं। हर किसी को यथेष्ट सम्मान और उचित अवसर उनके चिंतन और सृजन के केन्द्र बिन्दु हैं। हमारी युवा पीढ़ी आज जिस द्रुत गति से विपथगामी हो रही है, जिस प्रकार अपनी संस्कृति और परंपरा से उनका दुराव है, यह इस युवा रचनाकार के लिए अत्यंत वेदनाजनक और असह्य है। कहते हैं कि यदि किसी राष्ट्र को तोड़ना है, उसे पराधीनता की बेड़ियाँ पहनानी है, तो उसकी संस्कृति पर चोट करनी चाहिए। आज पुनः हमारे साथ कुछ ऐसा ही हो रहा है। हम अपनी संस्कृति और परंपरा को भुलाकर मानसिक रूप से विदेशी सभ्यता के गुलाम हो रहे हैं। हम अपने पर्व-त्योहारों, रीति-रिवाजों को भूलकर दिग्भ्रमित हो रहे हैं।

डॉ. अरुणोदय ने हमारे इस अवमूल्यन को ठीक-ठाक पहचाना है और प्रान्त के कोने-कोने में 'अनहद' के माध्यम से अलख जगाने का प्रयास किया है। 'अनहद' के युवा कलाकार अपने पारम्परिक भारतीय वाद्यों और पारम्परिक लोक नाट्यों के माध्यम से प्रान्त और देश में सांस्कृतिक पुनर्जागरण के लिए जो सद्प्रयास कर रहे हैं, उसके पीछे डॉ. अरुणोदय की परंपरा-रक्षण सम्बन्धी सकारात्मक और परिपक्व सोच ही कार्यरत है।

कहते हैं इतिहास अपनी पुनरावृत्वि के लिए परिस्थिति का निर्माण करता है। यदि हम पचास के दशक के भोजपुरी फिल्मों को देखें तो हमें अपनी भाषा और परंपरा पर गर्व होगा, परन्तु वर्तमान में भोजपुरी

फिल्मों में द्विअर्थी संवादों और गानों से जो अश्लीलता आई है, वह किसी से छिपी नहीं है। डॉ. अरुणोदय इसे निर्माताओं की नासमझी और साग्रह अपनाई गयी विवशता के रूप में विवेचित करते हैं। उनके अनुसार फिल्मों का उद्देश्य महज मनोरंजन नहीं बल्कि मार्गदर्शन भी होना चाहिए। अपनी इस सोच को रूपायित करने के लिए उन्होंने 'सिनेयात्रा' नामक एक संस्था गठित की है, जो भोजपुरी सिनेमा के कायापलट और पुनर्सस्कार के लिए कृतसंकल्प है। इस संस्था के तहत इन्होंने वैसे नामचीन कलाकारों को समाज के समक्ष पुनः प्रतिष्ठित और सम्मानित करने का बीड़ा उठाया है, जो अब समय के अंतराल वश गुमनामी के अँधेरे में खोते जा रहे हैं। डॉ. अरुणोदय साहित्य, कला और फिल्म को समाज-परिवर्तन का एक सशक्त माध्यम मानते हैं।

यही कारण है कि पुस्तक-रचना के साथ-साथ वे ललित कलाओं और चलचित्रों के स्तर और उत्थान के प्रति भी सजग और सक्रिय रहते हैं। इस हेतु वे विविध पत्र- पत्रिकाओं में अपने आलेख नियमित भेजते हैं। कहना तो यह ठीक होगा कि डॉ. अरुणोदय की प्रतिभा बहुवस्तु-स्पर्शिनी है, जिसमें कर्म और भाव का मणिकांचन सुयोग है। वे जितने बड़े कलानुरागी हैं, उतने ही सुचिंत्य विचारक और शिक्षानुरागी। उनका मानना है कि जब तक समाज के गरीब और निराश्रित बच्चों को शिक्षित नहीं किया जायेगा, तब तक रुचिसम्पन्न, समतामूलक, कलाप्रिय, सुसंस्कृत और समुन्नत समाज की कल्पना बेमानी है। अतः कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा कि डॉ. कुमार अरुणोदय एक ऐसे कलाप्रेमी, साहित्यकार और समाज-शिल्पी हैं, जिनके पोर-पोर में परंपरा की मिठास, वर्तमान की कड़वाहट का एहसास और भविष्य-निर्माण की कसक मौजूद है।

**–शैलेन्द्र कुमार**
अध्यक्ष (हिंदी विभाग)
आचार्यश्री सुदर्शन कृष्णा निकेतन, पटना

# अन्तरावलोकन

'राग अशेष' की रचना सायास न होकर अनायास है। मेरी दृष्टि में यह रचना है भी नहीं, क्योंकि रचना तो उसे कहना चाहिए जिसमें कुछ-न-कुछ प्रयत्न किया गया हो जबकि इस पुस्तक के निबंध स्वतः स्फूर्त हैं। यहाँ यह कहना भी जरूरी है कि मैं इनकी श्रेष्ठता का कोई दावा नहीं कर रहा हूँ पर इतना विश्वास है कि इन्हें पढ़कर आप सुधी पाठकों को प्रसन्नता महसूस होगी। किसी पुस्तक या कृति की उपादेयता या लोकप्रियता तो उसके पाठकों की स्वीकृति पर निर्भर करती है, किंतु उसका रचा जाना तो कृतिकार की स्थिति और अनुभूति से ही सम्बद्ध है।

मैं एक निहायत घुमक्कड़ आदमी हूँ और अपने भ्रमण के दौरान बच्चे से बूढ़े तक भिन्न-भिन्न वय के व्यक्तियों से मिलता- जुलता रहता हूँ। सौभाग्य से देश के भीतर और बाहर बालकों, किशोरों और नौजवानों से संबंधित अनेक शैक्षणिक-गैर शैक्षणिक कार्यक्रमों में भाग लेने का कोई शताधिक अवसर प्राप्त कर चुका हूँ; जाहिर है कि इस परिभ्रमण के दौरान चोरी-चुपके कुछ अनुभूतियाँ अन्तर में उतरकर सघन हो जाती हैं और उनकी सघनता मन-प्राण को इस कदर सिक्त कर डालती हैं कि लाख सँभालने पर भी वे भाव स्वतः छलक पड़ते हैं। जैसा कि मैं समझता हूँ, मेरी रचनाओं में मेरे विचारों की अपेक्षा भावों की मात्रा ही अधिक होनी चाहिए क्योंकि मेरा लेखन न तो गुरु-गंभीर सोच का आग्रही है और न ही किसी महत् उद्देश्य-पूर्ति का

आकांक्षी, मैं तो बस इसलिए लिखता हूँ कि यह सब लिखकर मुझे अच्छा लगता है।

प्राय: यह कहा जाता है कि रचनाएँ सोद्देश्य हुआ करती हैं। बात भी बहुत हद तक ठीक है, किंतु मैं यहाँ साफ कर देना चाहता हूँ कि यदि उद्देश्य ही स्थिर करना हो तो मैं एकमात्र आत्मतोष का ही वरण कर सकूँगा। मेरी भाषा या मेरे भाव केसे हैं अथवा किस कोटि के हैं, यह स्थिर करना तो आपका काम है; मेरा काम तो महज इतना है कि देश-देशान्तर की संगृहीत जो अनुभूतियाँ मुझे प्रेरित और आन्दोलित करती रही हैं, उनको सीधे और सच्चे स्वरूप में आप तक पहुँचाकर जुड़ और जुड़ा सकूँ।

यह आवश्यक नहीं कि मेरे भावों और विचारों से आपकी सहमति ही हो। बहुत संभव है कि जिन विषयों पर मैंने लिखा है, उनपर आप मेरी अपेक्षा कहीं अधिक गंभीरता से विचार कर सकते हों या फिर पहले भी विचार किया गया हो, किंतु इतना कहने में मुझे संकोच नहीं है कि इन विषयों के बारे में मैं जो ठीक समझता हूँ अथवा मेरी सहज बुद्धि में मुझे जो ठीक लगा है, वही मैंने लिखा है। ऐसे भी मैं किसी प्रगाढ़ बौद्धिकता या प्रौढ़ वैचारिकता का दावा ठोकने की स्थिति में नहीं हूँ, कारण कि मेरी बुद्धि सदा से मेरे हृदय की दवंगता ही स्वीकार करती आयी है।

मेरे ये निबंध ललित हैं या नहीं, इनके भीतर कोई सार है या नहीं, इन बातों की मुझे कोई चिंता नहीं, मैं तो बस इतना चाहता हूँ कि मेरे ये भाव आपको भी उसी तरह गुदगुदाएँ और गुनगुनाने के लिए प्रेरित करें, जिस भाँति मुझे करते रहे हैं। आशा है कि मेरी यह कामना फलवती होगी। आप सहृदयों की प्रतिक्रियाओं का हार्दिक स्वागत रहेगा।

महावीर जंयती **–अरुणोदय**
19 अप्रैल, 2016

# शुभाशंसा

निबंध गध-साहित्य का एक विशिष्ट रूप है। सामान्यतः इसमें निबंधकार द्वारा एक विशेष निजता, स्वच्छंदता, सजीवता और रंजकता के साथ मानक एवं प्रांजल भाषा में किसी विषय का निंबधन अर्थात् निरूपण किया जाता है। आधुनिक युग में इसका महत्त्व बहुत बढ़ गया है, क्योंकि इसमें भावों एवं विचारों की अबाध अभिव्यक्ति के साथ-साथ भाषा-शैली के विकास- विस्तार की अपार संभावनाएँ होती हैं। पुनः इसमें लेखकीय व्यक्तित्व को खुलकर खेलने का मौका मिलता है। कदाचित् इन्हीं कारणों से निबंध आज गद्य साहित्य का सर्वाधिक प्रचलित और प्रशंसित रचना-रूप सिद्ध हो रहा है।

यह देखकर अत्यधिक हर्ष और तोष है कि युवा लेखक कुमार अरुणोदय प्रणीत 'राग अशेष' पुस्तक प्रकाश में आ रही है। यह उनकी दूसरी पुस्तक है। इससे पूर्व 'भावाशेष' निबंध-संग्रह के माध्यम से वे एक सुलेखक के रूप में अपनी पहचान बना चुके हैं। जहाँ तक 'राग-अशेष' की बात है, इसके निबंधों में यदि एक ओर निबंध-कला के तात्त्विक वैशिष्ट्यों का सम्यक् संयोजन है, तो दूसरी ओर लेखक की व्यक्तिगत विशेषगओं का पूर्ण प्रतिबिंबन और प्रतिफलन भी।

कहने की जरूरत नहीं, जाननेवाले जानते हैं और न जाननेवाले भी जानेंगे कि अरुणोदय जी का व्यक्तित्व कई मायनों में विशिष्ट और विलक्षण है। ज्ञान-विज्ञान, साहित्य-संगीत, धर्म-अध्यात्म आदि के प्रति

इनका आत्यंतिक आकर्षण एक तरह से इन्हें पैतृक दाय के रूप में प्राप्त है। ये न केवल अध्ययनशील, अपितु चिंतनशील और मननशील भी हैं। इनके आचार-विचार में मृदुलता मिश्रित उच्चता और भव्यता है। ज्ञान के अर्जन और अभिवर्द्धन के साथ यथावसर उसकी उपयुक्त अभिव्यक्ति इनके व्यक्तित्व की अपनी विशेषता है। वैयक्तिक रूप से साधनसम्पन्न होते हुए भी ये व्यापक समाज के हित सदैव सन्नद्ध और क्रियाशील रहते हैं। इनके ये सारे गुण इन्हें सामान्य से विलग विशिष्ट बनाते हैं।

'राग-अशेष' अरुणोदय जी के वैयक्तिक निबंधों का एक सुंदर संकलन है। इसमें संकलित निबंध जीवन-जगत् के विविध विषयों से सम्बद्ध हैं। लेखक के दृष्टिपथ में व्यक्ति से लेकर परिवार, समाज, राष्ट्र और पूरी विश्व -मानवता है। विषयगत वैविध्यों के अनुरूप ही इसकी भाषा-शैली भी बहुरूपिणी और बहुरंगिनी है। संक्षेपतः यह संग्रह मनोरंजक और ज्ञानवर्द्धक होने के अतिरिक्त आश्वस्तिकारक भी है। निश्चय ही साहित्य के साथ समग्र समाज के लिए यह एक शुभ संकेत है।

प्रस्तुत संग्रह के निबंध अपनी जिन प्रधान विशेषताओं से ध्यान आकृष्ट करते हैं, उनमें सर्वप्रमुख है- उन्मुक्त आत्माभिव्यक्ति। इसके अंतर्गत लेखक ने यत्र-तत्र बड़े सहज रूप में आत्माभिव्यक्ति की है- "जहाँ तक मेरी बात है, अगर तीन-छह महीने में एक नई जगह घूम नहीं आया तो जीवन व्यर्थ लगने लगता है। किसी शिक्षाशास्त्री, पुरातत्त्ववेत्ता या संगीतकार की संगति नहीं मिली तो जी अजीब सा उचटने लगता है।" इसी प्रकार इन पंक्तियों में अभिव्यक्त आत्मीयता कितनी सहज और स्वाभाविक है- "मेले-ठेले, उत्सव -आयोजनों में जाता रहता हूँ, लोगों से मिलता-जुलता रहता हूँ, कविताएँ करता हूँ, ढोल-ड्रम पीट लेता हूँ, फेसबुक और वाट्सएप्प में दुनिया की तस्वीर निहारने के साथ-साथ गरीब और निराश्रित बच्चों के बीच हकीकत में बैठ सुस्ता लेता हूँ तो लगता है कि सारा जहाँ मेरे साथ है।" गहरी

आत्मीयता के साथ तीव्र भावनामयता इस संग्रह के निबंधों की दूसरी प्रमुख विशेषता है। यहाँ लेखकीय स्वानुभूति से सम्पृक्त भावात्मकता अत्यंत मर्मस्पर्शी और प्रभाव- शालिनी है- "मैं सोचता हूँ, क्या मेरी माँ होती तो मैं भी उनसे ऐसा ही खींचा-खींचा सा होता। न जाने क्यों और केसे वे मुझे सदैव याद आती हैं। उनके आशीष से मेरा दिन शुरू होता है और एहसास से रात गुजरती है।" पुनः मानवीय रिश्तों में आयी रिक्तता-तिक्तता से व्यथित भावुक मन का यह उद्गार सहज संवेद्य है कि "पीढ़ियों के बीच न तो कोई पट है और न कपाट, फिर खुलने और हटने का झंझट ही कहाँ है! जब द्वार खड़े होकर प्रतीक्षा करनी पड़े तो समझना चाहिए कि वह प्रेम नहीं, बल्कि उसके आवरण में लिपटा हुआ समझौता है।"

किंतु, लेखक के पास केवल भावुक मन ही नहीं, विचारण ा-शक्ति से युक्त प्रखर मस्तिष्क और सतेज आलोचनात्मक दृष्टि भी है। अपनी तीक्ष्ण आलोचकीय दृष्टि और प्रखर वैचारिकता के बल पर ही वह वर्तमान जीवन की विसंगतियों और विडम्बनाओं को बखूबी पहचान पाया है तथा उससे निस्तार का संकेत-संधान भी कर सका है। उसका यह अभिमत सर्वथा सार्थक और समीचीन है कि "आजकल बड़ाई के जो मानक खड़े हुए हैं, उनको जान समझकर मन बड़ा विचलित हो उठता है। बड़ी गाड़ी, बड़ा बंगला, चमकते कपड़े और जूते, प्रायः यही वे चीजें हैं, जिनके आधार पर हम किसी को बड़ा मान लेते हैं। साधना और साहित्य, कला और संगीत, सेवा और सहायता आज किसी मूल्य के नहीं रहे और यदि इनका कुछ मूल्य शेष भी है तो चाँदी के चन्द सिक्कों की खनक में वे सब खो गये हैं।" और फिर यह भी कि "आधुनिकता ने हमें कितना असंतुष्ट और अमानवीय बना दिया है। हमारा सारा ध्यान ऐसी बातों पर केन्द्रित हो गया है, जिसके बिना भी हमारा जीवन सुगमता और प्रसन्नता से व्यतीत हो सकता है।" इसी क्रम में साहित्यिक समाज के प्रति उसकी यह बेबाक टिप्पणी भी ध्यातव्य है कि "यह सच है कि मंच से भी अनेक बार सुंदर और

शाश्वत कविताएँ मुखरित होती हैं, किंतु आजकल ऐसी जगहों पर उन लोगों का जमावड़ा ही अधिक है, जो बेताले, बेसुरे और बेसिर-पैर के हैं।" इस प्रकार संग्रह के अधिकतर निबंध गहरे यथार्थबोध और प्रखर वैचारिकता से आपूरित-परिपूरित हैं।

समग्रतः 'राग-अशेष' हिन्दी निबंध के क्षेत्र में एक नवीन हस्तक्षेप है। भाव-संपदा के साथ कला-सौष्ठव की दृष्टि से भी यह एक उत्कृष्ट निबंध- संग्रह है। इसकी भाषा-शैली में सरलता, सहजता एवं सजीवता के साथ पर्याप्त प्रवहमानता है। कहीं-कहीं बड़ी से बड़ी बात को भी अतिसंक्षेप में कह दिया गया है, यथा-"आज दही जमे या न जमे, हमारा मन जरूर जम गया है", "हाथ पकड़कर आपको कोई उठा सकता है, दौड़ा नहीं सकता" आदि। वस्तुतः इस प्रकार के सूत्रवाक्यों में ज्ञान और अनुभव का एक समृद्ध संसार समाहित है।

कुल मिलाकर अरुणोदय जी के व्यक्तित्व एवं कृतित्व में एक सत्साहित्यकार की समस्त संभावनाएँ विद्यमान प्रतीत होती हैं। अतएव मेरी शुभेच्छा और शुभाशंसा है कि वे इसी तरह आगे भी सृजन-कर्म में संलग्न रहकर साहित्य और समाज का हितसाधन करते रहें। अंततः उन्हीं के शब्दों में "स्नेह भरता रहे, दीप जलता रहे…"

इतिशुभम्

**-डॉ. नागेन्द्र कुमार शर्मा**
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
राम जयपाल महाविद्यालय, छपरा

# अनुक्रम


| | | |
|---|---|---|
| | *दो शब्द* | *7* |
| | *भूमिका : लेखक की सकारात्मक यात्रा को स्थापित करती है 'राग अशेष'* | *9* |
| | *डॉ. कुमार अरुणोदय : एक भावुक समाज-शिल्पी* | *11* |
| | *लेखक की बात : अन्तरावलोकन* | *17* |
| | *शुभाशंसा* | *19* |
| 1. | नारी तुम केवल श्रद्धा हो | 27 |
| 2. | मन नाहिं दस-बीस | 30 |
| 3. | फगुन के दिन चारि | 32 |
| 4. | किसका भागी कौन | 35 |
| 5. | आस में आकाश | 37 |
| 6. | जीने का अर्थ | 40 |
| 7. | गन-तंत्र | 43 |
| 8. | मस्त-ऐ-खुदा, कश्त-ऐ-डगर | 46 |
| 9. | बसियौरे का स्वाद | 49 |
| 10. | अंत:प्रज्ञ | 51 |

11. इस पथ पर जिनसे स्नेह मिला 53
12. जनम कृतारथ होए 55
13. लघु न दीजिए डारि 58
14. एके आषिर पीब का 61
15. जामै कुटुम्ब समाय 64
16. कर्म का मर्म 66
17. चिंतन के क्षण 69
18. कौन अपना, कौन पराया 71
19. रिश्वत रिश्ता दोउ का कभी न एका होय 73
20. आत्मविश्वास 76
21. आज का अभिमन्यु 79
22. बाँटन वारे को लगे, ज्यों मेहँदी के रंग 82
23. कारज धीरे होत है 85
24. यादों के झरोखों से 88
25. दीप जलता रहे 91
26. नैना अंतर आव तू 94
27. जिये सो खेले फाग 97
28. बचपनावस्था 100
29. जो तोको काँटा बूबै 104
30. मंत्र और यंत्र 107
31. बुरा जो देखन मैं चला 110
32. आतम खबरि न जाना 113
33. जीवन–राग 116

| | | |
|---|---|---|
| 34. | जन्मदिन के बहाने | 119 |
| 35. | उनके प्रति | 122 |
| 36. | पूजा के पल | 125 |
| 37. | वसंत के आने पर | 128 |
| 38. | किसमें कितना कौन है | 131 |
| 39. | द्वार खड़ा मैं तेरे | 134 |
| 40. | माटी तेरे रूप अनेक | 138 |
| 41. | यात्रा | 141 |
| 42. | साँच की आँच | 144 |
| 43. | नमामि शम्भो | 147 |
| 44. | मौन की शक्ति | 150 |
| 45. | ऐसी करनी कर चलो | 154 |
| 46. | नेह बराबर तप नहीं | 158 |
| 47. | जुड़ना सीखें | 161 |
| 48. | मेरो मन अनत कहाँ सुख पायो | 165 |
| 49. | माटी चंदन बन जाती जब | 168 |
| 50. | मन का स्वरूप | 172 |
| 51. | स्वारथ के सब मीत | 176 |
| 52. | शिक्षा का व्यावहारिक पक्ष | 179 |
| 53. | परमात्मा का स्वरूप | 182 |
| 54. | होनहार वीरवान के होत चिकने पात | 185 |
| 55. | समरथ के नहिं दोष गुसाईं | 188 |
| 56. | सहिष्णुता का अर्थ | 190 |

57. जीवन और मृत्यु 192

58. वर्तमान राजनीति और राष्ट्रवाद 195

59. बरसात पर, मनोभावों की अभिव्यक्ति 200

60. जिजीविषा 202

61. ख्वाहिशें 205

62. भरोसा 207

# नारी तुम केवल श्रद्धा हो

"नारी तुम केवल श्रद्धा हो" कहकर महाकवि प्रसाद ने एक ओर जहाँ महामानव मनु के मन को दुहराया; वहीं दूसरी ओर स्वयं के अन्तर्मन की अभिव्यक्ति की। महात्मा मनु ने ही श्रद्धा के संयोग से मानव-सृष्टि को विकसित किया कदाचित् इसी कारण मनुष्य मनस्वी और श्रद्धालु हुआ करता है।

मनु कहते हैं- **"यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवता।"**

शतपथ ब्राह्मण में पत्नी को पुरुष की आत्मा और महाभारत में अर्द्धांगिनी स्वीकार किया गया। भगवान सदाशिव का अर्द्धनारीश्वर स्वरूप भी नारी-शक्ति के महत्त्व को ही उद्‌घाटित करता है। इन सब तथ्यों को देखकर समझ में आता है कि प्राचीनकाल में हमारे समाज ने नारी को बराबर का अधिकार अथवा ऊँचा दर्जा दे रखा था, किंतु मध्यकाल के राजनैतिक-सामाजिक परिवर्तनों के परिणामस्वरूप नारियों के पतन का इतिहास आरंभ हुआ।

कहा जाता है कि आक्रमणकारियों और परदेशी शासकों की कुदृष्टि से बचाने के लिए ही भारतीय समाज ने नारी को पर्दे की ओट में रहने पर विवश किया। सच्चाई जो भी हो, पर समाज की दृष्टि ऐसी बदली कि महात्मा तुलसी जैसे स्वतंत्रचेता और संवेदनशील प्राणी ने भी नारियों के पराधीनता की वकालत कर डाली।

वे कहते हैं- "महा वृष्टि चल फूट कियारी, जिमि स्वतंत्र भय

बिगरहि नारी।" न जाने वह कौन-सा क्षण था और केसी परिस्थिति थी कि महात्मा के मन में यह विचार आया। क्या स्त्रियों के स्वभाव की सचमुच यही सीमा है या फिर हमारे मूल्यांकन का पैमाना दोषपूर्ण है।

धरती और स्त्री दोनों का निर्माण शायद विधाता ने सहने के लिए ही किया है। धरती हजार झंझावात सहकर भी अन्न और रत्न उगलती है और नारी अपार पीड़ा और कष्ट सहकर भी अस्तित्व और आशीष प्रदान करती है तब भी उसे सदियों से जिल्लत और हीनता के बोध ने जकड़ रखा है। आधुनिक शिक्षा और विज्ञान का वरदान पाकर भी वह अपनी कुंठाओं से पूरी तरह मुक्त नहीं हो पायी है। ऊँचे से ऊँचे ओहदे और ऊँची-से-ऊँची कुर्सी पर बैठकर भी वह स्वयं को पुरुष के अधीन ही समझती है। 'अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी' कहकर गुप्त जी ने स्त्री की इसी वेदना को वाणी देने की कोशिश की।

आज समय बदला जरूर है। स्त्री शक्ति और नारी-सशक्तिकरण की दिशा में अनेक स्तरों पर प्रयास चल रहे हैं, 'देवि माँ सहचरी प्राण' की उद्घोषणा के साथ हमने नारी के गौरव और सम्मान को समझना और स्वीकारना शुरू किया है, किंतु इस दिशा में और अधिक सम्मिलित प्रयास की जरूरत है। स्वयं स्त्रियों को भी सजग और सतर्क रहने की जरूरत है, क्योंकि अपसंस्कृति का जहर घर से बाज़ार तक बिखरा पड़ा है।

सत्य तो यह है कि स्त्री–पुरुष दोनों की समान सहभागिता से ही यह सृष्टि संभव है, किसी का महत्त्व एक–दूसरे से इंच भर भी कम नहीं। अहा! महाकवि ने केसा अद्‌भुत अमर राग छेड़ा है–

"नारी तुम केवल श्रद्धा हो, विश्वास रजत, नग, पग तल में/ पीयूष स्रोत–सी बहा करो, जीवन के सुंदर समतल में···!!" सचमुच नारीत्व को समझ लेना, जीवन की पूर्णता मानना कहीं बेहतर साबित हो

सकता है···! आदि शक्ति स्त्री, अपने जन्म से ही वसुधा को भाव–मंडित, सौंदर्य–मंडित, महिमा–मंडित कर डालती है।

□

# मन नाहिं दस-बीस

ऐसे तो मनुष्य अनंत संभावनाओं वाला प्राणी है, किंतु उसके श्रम और समझ की भी एक सीमा है। सीमा से अधिक परिश्रम हमें परेशानियों में डालने लगता है और सीमा से अधिक समझ हमारे संकट का कारण बन सकती है।

संसार में ज्ञान-विज्ञान के हजारों-हजार विषय बिखरे पड़े हैं। छोटा-से-छोटा जीव, छोटी-से-छोटी घटना, सूक्ष्म-से-सूक्ष्म बातें सबके सब अनुसंधान और अनुशीलन के अनेक अवसर उपलब्ध कराते हैं। हवा तेज चलती है तो उसका भी कोई ठोस कारण है और पक्षी प्रवास पर हैं तो यह भी अकारण नहीं है। हमारे हँसने, रोने, गाने और सोने के पीछे भी कोई-न- कोई कारण है।

हर आदमी अपनी रुचि और जरूरत के क्षेत्र में अनुसंधानरत है। विद्यार्थी अंक लाने के लिए और विषय समझने के लिए अध्ययनरत है और अध्यापक समझाने और संतुष्ट करने के लिए। पक्षी-विज्ञानी जंगल-जंगल भटक रहा है और पुरातत्त्ववेत्ता ढूह और खंडहरों में। अध्यात्मचेता ईश्वर को खोजता है और प्रेमचेता प्रिया के अनुराग में रत है। गोस्वामी जी लिखते हैं कि 'चोरहि चाँदनी रात न भावा' मतलब कि चोरों का अनुसंधान अंधकार में ही चलता है।

इतना सब होने पर भी एक बात प्राय: तय है कि हमें अपने मन को किसी एक विषय पर ही केंद्रित करना चाहिए क्योंकि विस्तार में

भटकाव का खतरा ही ज्यादा रहता है। विस्तार को वही समेट सकता है, जो खुद विराट् हो। सामान्य जनों के लिए तो सीमा निर्धारित कर लेना ही ठीक है।

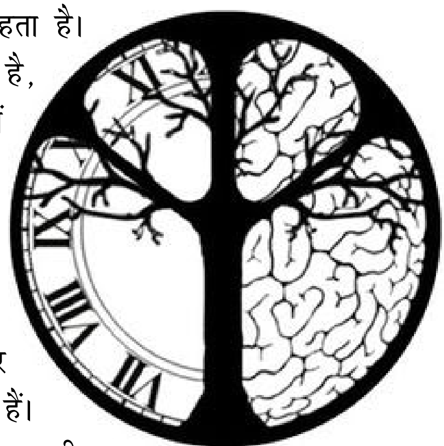

संसार में विरले ही ऐसे महापुरुष हुए हैं, जो एक साथ ही ज्ञान-विज्ञान, साहित्य और कला को हृदयंगम कर सके हैं। कथा सम्राट प्रेमचंद जी ने यदि अपनी प्रतिभा को गणित बनाने में जबरन धकेला होता तो संभव है तीसरी बार गणित में पास हो जाते किंतु तब साहित्य के 'मानसरोवर' में कहानियों के ऐसे ही कमल खिलते, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। उसी तरह अगर गैलेलियो की आँख दूरबीन से हटाकर कविता पर टिका दी गई होती तो संभव है कि कुछ अनर्थ होने-होने से बच जाता। गरज यह कि हमें अपनी रुचि, शक्ति और सहन का अंदाजा लेकर ही जीवन-समुद्र लंघन का प्रयास करना चाहिए।

यों तो अर्जन और अनुसंधान की कोई निश्चित अवस्था नहीं होती, फिर भी परिवक्वता के बिना न तो संपूर्णता आती है और न ही पूर्ण सरसता। इंजीनियरिंग का अध्येता रहा हूँ, इसलिए यंत्र को काफी हद तक समझने का प्रयास किया है, अध्यात्म में रुचि है, इसलिए मंत्र की शक्ति से भी थोड़ा-बहुत परिचित

हूँ; किंतु ऊष्मा और ऊर्जा-ये दोनों तो यंत्र और मंत्र सहित सम्पूण ा सृष्टि के आधार तत्त्व हैं। चन्दन भैया! आपसे छोटा हूँ, तभी तो यंत्र और मंत्र से आगे नहीं बढ़ पा रहा¨ ऊष्मा और ऊर्जा को समझने के लिए मुझे परिवक्वता की थोड़ी और जरूरत है¨!! प्रणाम!

☐

# फगुन के दिन चारि

हम अपनी जिंदगी किस तरह जिएँ, यह एक अहम सवाल है; क्योंकि जिंदगी काटना और जीवन जीना दोनों ही बिलकुल दीगर बात है। अगर कुछ लोगों की बात छोड़ दें तो शेष यह विचार भी नहीं करते कि हमें अपनी जिंदगी को किस तरह जीना है। बस जिदंगी मिल गई है और उसे जैसे–तैसे जिएँ जा रहे हैं। प्राय: इस मामले में हम बंधी–बंधाई लीक का ही अनुकरण करते हैं, माता पिता या परिवार के लोग जिस वृति में लगे हैं, उनमें हमारा लगना स्वाभाविक है पर उनकी ही रीति से जीवन का निर्वाह भी किया जाए, यह कोई जरूरी नहीं है।

प्रत्येक व्यक्ति की अपनी रुचि और स्थिति होती है, जिसे हम व्यक्तिगत विशेषता भी कह सकते हैं। अत: यह जरूरी नहीं कि पूर्वजों के व्यवसाय में हमारी भी रुचि हो। मान लीजिए किसी का पुश्तैनी कार्य जूते–चप्पल बनाना है, किंतु उसे भूगोल और खगोलशास्त्र की अच्छी समझ है तो फिर क्या यह जरूरी है कि वह खगोलशास्त्री न बनें। इसी प्रकार लुटेरे की पीढ़ी संन्यासी और संन्यासी की पीढ़ी लुटेरा भी तो हो सकती है। आशय यह कि जाति और वंश– परंपरा हमारे जीने का नियामक या निर्धारक नहीं हो सकती।

खैर! ऊपर की बातें तो हमारे पेशे या व्यवसाय से ज्यादा जुड़ी हैं, किंतु यहाँ बात जीवन–शैली और उसके नियामकों की हो रही है। जहाँ तक मैं समझता हूँ कि आदमी को अपना जीवन अपने अनुसार जीना

चाहिए। औरों का अनुकरण करना भी बुरी बात नहीं है; किंतु, यह अनुकरण किसी आदर्श व्यक्तित्व, साधक, संन्यासी या स्वीकृत चरित्र का ही होना चाहिए। सामान्यतः हमारे लिए अनुकरण का मार्ग ही सरल होता है। पर ऐसा देखा गया है कि किसी को अपना आदर्श स्वीकारते समय हमारी चित्तदशा कुछ और होती है और

बाद में कुछ और। हम केवल बाह्य रूप-स्वरूप में ही अनुयायी होते हैं, वास्तव में इस अनुकरण के बहाने हम अपनी एक स्वच्छंद, स्वेच्छारचारी और कपटपूर्ण जीवन-शैली विकसित कर उसकी सामाजिक स्वीकृति के आकांक्षी होते हैं। सरल शब्दों में कहें तो अक्सर हम छल के लिए अनुकरण करते हैं।

जीवन न तो इस छल और प्रपंच का नाम है और न ही निषेध और वर्जनाओं का। जीवन मानव निर्मित तालाब और नहर जैसा नहीं है कि यह बंधन और वर्जनाओं के बीच बहेगा, यह तो प्रकृति की इच्छा और वरदान स्वरूप स्वतः स्फूर्त नदी-झरने के समान है, जो एक लय और गति में निर्बाध बहता है, जोड़ता है और जुड़ाता है। इसलिए जितना बन पड़े हँसकर, मुस्कराकर, जोड़कर और बाँटकर संजीदगी के साथ खिल-खिलाकर जीने की कोशिश करनी चाहिए।

हमें यह भूलना नहीं चाहिए कि जिंदगी आपकी नहीं, किसी और के उधार की है..., अपनी शर्तों पर जीना ही, जीवन की पूर्णता भी है ...!! जी लीजिए क्योंकि जब जिंदगी लेना शुरू करती है तो साँसें

भी नहीं छोड़ती। मौसम बार–बार नहीं, वर्ष में एक बार ही आता है, क्या जाने जिंदगी भी एक बार ही मिलती हो! इसलिए जितना चहकना है, जितनी खुशबू बिखेरनी है, जितना नाम–यश बटोरना है, जितना रंग उड़ेलना है, उड़ेल लीजिए; क्योंकि 'फागुन के दिन चारि' फिर मिले कि नहीं!

□

# किसका भागी कौन

हमारे शास्त्र में लिखा है कि जहाँ नारियों की पूजा होती है, वहीं देवताओं का निवास होता है। कदाचित् उस काल में नारी की मर्यादा और मान का समाज को पूरा ख्याल रहा हो। पर मध्यकालीन भारत में नारियों की जो दुर्दशा हुई, उससे आज हम अपरिचित नहीं हैं। संभव है कि हमारे देश में पतितों के प्रवेश के कारण यह सब हुआ हो, किंतु उसमें हमारी चुप्पी और सहभागिता ने भी तो इज़ाफा किया होगा। हुआ तो यह सब रामायण और महाभारत काल में भी। पर उस समय इनकी रक्षा और मान में भी समाज का एक सशक्त वर्ग खड़ा था। यदि आततायी दुर्योधन और दुश्शासन था तो मान-रक्षक श्रीकृष्ण थे, अत्याचारी रावण था तो पुरुषोत्तम श्रीराम थे, किंतु बादशाहों के हरम और राजाओं के रनिवास में नारियों की रक्षा के लिए कौन था? आप मध्यकालीन भारत के साहित्य और कला का अवलोकन करके देखिए। जितनी वाहवाही है, उतनी ही व्यथा और करुणा। क्या-क्या नहीं सहा है स्त्रियों ने, पुरुषों के हाथों के खिलौने से ज्यादा क्या उनका कोई वजूद रहा है।

भला वह कौन-सी नारी होगी, जो विषकन्या बनकर या राजनर्तकी का सम्मानित पद पाकर भी अंदर से प्रसन्न होती होगी। सारे मान, धन, शोहरत और पूछ क्या पीड़ादायक नहीं होते होंगे! केसा समाज था हमारा कि सारी बंदिशे स्त्रियों पर डालकर स्वयं में गौरवान्वित होता

रहा। सती होंगी स्त्रियाँ, बुरके में रहेंगी स्त्रियाँ, प्याले में मदिरा भरेंगी स्त्रियाँ। घोर यातना और अनुचित आजादी के द्वंद्व में पुरुषों ने उन्हें खूब झुलाया, खूब परोसा, खूब कोसा और मन भर लुटा। जिनसे हमारा वजूद है, जो सृष्टि के मूल में है, उनके साथ हमारा यह छल-छद्म वर्षों तक चलता रहा और अब भी जारी है। यदि हमारा वश चले तो हम उन्हें अब भी उफ् नहीं करने दें।

सच कहा आपने, नारियों की बदलती स्थिति की जिम्मेवारी निश्चय ही नारी-वर्ग पर है…! पर पुरुषों की बदलती हुई कुत्सितता की जिम्मेवारी भी नारियों पर क्यों? हमने शुरू से ही, नारी को भोग्या से ज्यादा कुछ नहीं समझा। अब जब नारीत्व का रूपांतरण हो रहा है तो हम हाय-तोबा मचा रहे हैं और फिर से उसे कठघरे में खड़ाकर केद करना चाहते हैं। हमारी इच्छा उसे 'असूर्यम्पश्या' बनाये रखने की है, हम उसे खिड़की- दरवाजे से बाहर झाँकने नहीं देना चाहते और सिर्फ़ स्वयं के भोग की वस्तु बनाए रखना चाहते हैं, पर्दा और प्रतिष्ठा का तो हमने बस एक झूठा बहाना बना रखा है। यही कारण है कि कोई स्त्री आज जब विमान चलाती है, रेल के कंट्रोल रूम को नियंत्रित करती है, पुलिस और बैंक का अधिकारी नियुक्त होती है तो हम उसके संबंध में अनेक अफवाहें गढ़ लेते हैं।

भला हो उन अँग्रेजों का, जिसने अपने क्रूर आतंक से हमारी आँखें खोल दीं और हममें लड़ने की ताकत आयी, हमारे महात्माओं ने अपनी दुर्बलताओं को समझा और नारी की अहमियत तथा शक्ति के नारे लगाए। राजा राममोहन राय, महात्मा गाँधी, महावीर प्र. द्विवेदी, टैगोर, प्रसाद, पंत, प्रेमचंद, गुप्त और निराला-न जाने कितने ऐसे सपूत खड़े हुए, जिन्होंने स्त्रीत्व को महामंडित करने में अपना मन-प्राण लगाया। किंतु, इतना होने पर भी स्त्रियों के विकास और ह्रास का असली भागी स्वयं स्त्री ही है, क्योंकि हाथ पकड़कर आपको कोई उठा सकता है, दौड़ा नहीं सकता।

□

# आस में आकाश

पता नहीं, मैं ऐसा क्यों सोचता हूँ…? व्यक्ति तभी मरता है, जब व्यक्ति अपनी जिजीविषा को समाप्त कर, मौत को गले लगाना चाहता है…! सुनकर अटपटा तो लगेगा ही, पर ध्यान से मनन करें तो एक बात स्पष्ट होती दिखती है, जिस भी जीवन में कुछ "और" पूरा करने की इच्छा या जिज्ञासा बची हो…, सामान्यत; मृत्यु आलिंगित नहीं होती। ईश–प्रदत्त जीवन से, ईश को भी बड़ी उम्मीदें हैं। मैं सोचता हूँ कि ईश्वर ने हमें यह जीवन निष्प्रयोजन तो नहीं दिया होगा। विज्ञान कहता है कि बिना कारण के कोई कार्य नहीं होता तो फिर हमारे होने का क्या कारण है?

होना क्या है? क्या रूप या आकार में होना ही होना है, क्या शरीर के बिना हमारा होना संभव नहीं है तो फिर हमारे शास्त्रों में 'अनंग' के होने का इतना व्यापक और पुख्ता प्रमाण केसे है! हवा को हम देख नहीं पाते, उसका कोई रूपाकार नहीं है तो क्या हवा नहीं है और यदि हवा नहीं है तो हमारा होना किस भाँति संभव होगा? हमारे वेद की ऋचा कहती है कि जो अंदर है, वह बाहर है और जो बाहर है, वही अंदर है। कितने पते की बात है, हमारी साँस क्या अंदर–बाहर नहीं है और उसके अंदर– बाहर रहे बिना क्या जीवन संभव है!

यद्‌यपि हमारा मैं' शाश्वत और अमर है; पर इस शरीर का भी अपना एक खास महत्त्व है। इसके होने पर संसार को हमारे अस्तित्व

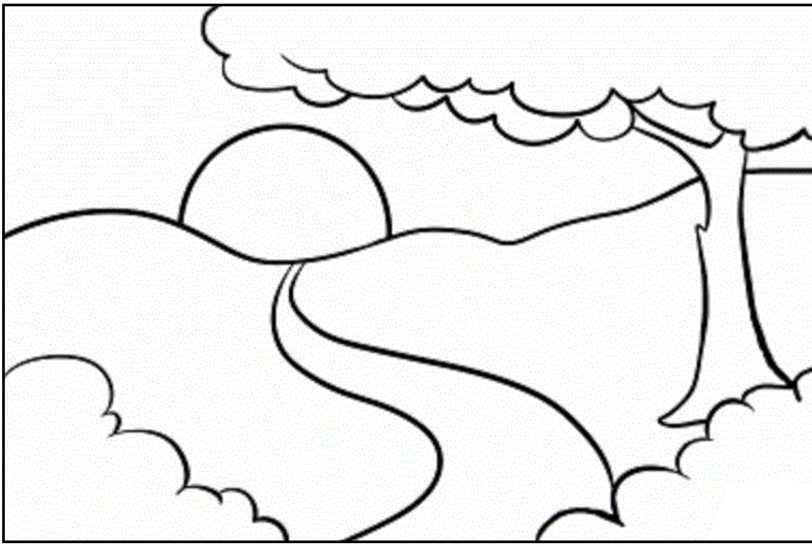

का बोध सहजता से होता रहता है। हमारा 'मैं' इसी शरीर की सवारी से संसारी बना रहता है और अपने तमाम उद्द्श्येयों की पूर्ति के लिए इसे ही साधन स्वरूप इस्तेमाल करता है। परम 'मैं' तो परमात्मा ही है, हमारा 'मैं' तो बस उसका एक छोटा-सा अंश है; या फिर यह भी संभव है कि वही अधिकाधिक सूक्ष्म हो, जो स्वयं को भाषित करने के लिए हमारे अपेक्षाकृत स्थूल 'मैं' को सृजित करता हो। ठीक वैसे जैसे कोई कण किसी माध्यम के बहाने घन में परिणत होता है या बीज विराट् में। मूल शक्ति उस विशाल बरगद में निहित है या फिर बीज में !

ऊपर की बातें उलझन पैदा करती हैं और सतह प्रायः सुलझा रहता है। इसलिए आत्मा के अनुसंधान की बात छोड़कर शरीर के विज्ञान की बात करना ही ज्यादा सुविधाजनक है। आपने ऐसा सुना- देखा होगा कि अमुक महीने भर से अब-तब में है, किंतु उसके प्राण इस आस में अटके हैं कि उसका परदेशी पुत्र आया नहीं है। सच्ची बात है, हमारी जिजीविषा ही हमें जिलाती है, हमारा हठ ही हमें जीवट देता है। मैं ऐसी अनेक घटनाओं का विश्वासपूर्वक उल्लेख कर सकता हूँ, जिससे

यह बात सहज सिद्ध हो जाएगी कि एकदम मरने वाली परिस्थितियों में भी आदमी अपनी जिजीविषा के बल पर उठकर खड़ा हो सका है। यदि हमने आस नहीं छोड़ी है, संकल्प नहीं तजा है और अपने शरीर को दुष्प्रवृतियों में पड़कर नष्ट नहीं किया है तो हमारे मरने का कोई कारण नहीं है। बहुत संभव है कि हमारे पूर्वज हजारों वर्षों तक जीते रहे हों। हमारे सामने इच्छामृत्यु और स्वसमाधि के सैकड़ों उदाहरण मौजूद हैं तो क्या यह संभव नहीं है कि हम अपनी इच्छा-शक्ति से अपनी मौत को टाल सकें। यह धरती लाखों वर्षों से जीवित है, पेड़-पहाड़ न जाने कबसे खड़े हैं, नदियाँ जाने कब से कलकल-छलछल करती बह रही हैं और आकाश भी आस में ही थमा है तो फिर हमारे थमे रहने में कौन-सी बाधा है!

□

# जीने का अर्थ

आदमी का जीवन उसके लिए सबसे महत्त्व की चीज है, शायद अन्यों के लिए भी ऐसा ही है। जीवन है तो संसार है, हम हैं तो फिर हमारे लिए दुनिया का अर्थ है!

कुछ लोग जीने की चाह में ही अपना जीवन बर्बाद कर लेते हैं और एक पल भी चैन की जिंदगी नहीं जी पाते। संग्रह और विग्रह करने का नाम जीवन नहीं है, किंतु बेलौस और व्यर्थ जिए जाने का नाम भी जीवन नहीं है। धूप और वर्षा का प्रचंड हो जाना, नदियों का कूल-कछार लाँघकर उफनते जाना, समुद्र की लहरों का सुनामी में बदल जाना और धरती का अति गति से डोलना जीवन नहीं है, वह तो समरस और लय बद्ध है, उसमें बिना किसी बाहरी दवाब या घात के एक गति है, तरलता है, लय और संगीत है।

आज सारा संसार स्वार्थ के घेरे में सिमटकर जी रहा है। गगनचुंबी इमारतों के डिब्बे जैसे घरों और गुलदस्ते के बनावटी फूलों में हमारा जीवन सिमट कर रह गया है। गाँव-शहर के लोग स्वार्थपरता और संकीर्णता के स्तर पर एक होते जा रहे हैं। बाग-बगीचों, अमराइयों, खेत-खलिहानों और ढोरों के प्रति हमारा वही आकर्षण नहीं है, जो हमारे पूर्वजों में हुआ करता था। कितना अच्छा था वह जमाना कि चूल्हे की आग या दही का जामन माँगने के नाते ही पूरा मुहल्ला या टोला एक साथ जुड़ा रहता था। आज दही जमे या न जमे, हमारा मन

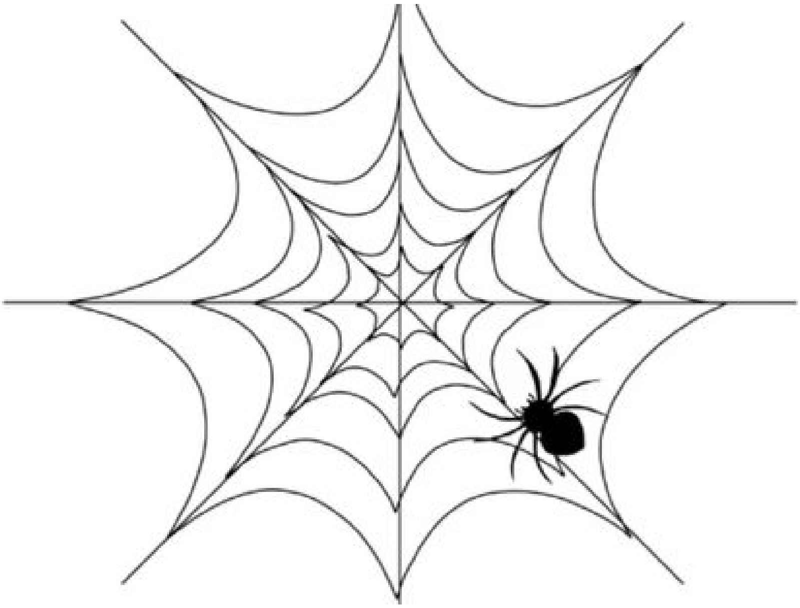

जरूर जम गया है। आज की मशीनी सभ्यता ने हमारी संस्कृति को अजगर की तरह निगल लिया है।

जीने के नाम पर हम रोज मरते हैं। दो टके के लोभ में फजीहत और अपमान सहते हैं, झूठी प्रशंसा और चाटुकारिता करते हैं और तलवे चाटते हैं। बेईमानी और अनीति से बहुत कुछ हड़पकर, दूसरों के सुख और अधिकार पर पंजा डालकर भी हम प्रसन्न नहीं हैं। जीवन को या तो हमने दासता के चंगुल में डाल दिया है या फिर उच्छृंखलता के आगोश में। हमारे पास अपने बच्चों, सगे-संबंधियों और अतिथियों के लिए समय नहीं है। हम उनकी इच्छाओं, आकांक्षाओं और भावनाओं को तिरस्कृत करते हैं और फिर भी खुश हैं कि हम जी रहे हैं। अगर इस अधम अवस्था का नाम ही जीवन है तो इसे अंतिम प्रणाम कर कूच कर जाने में ही हमारी भलाई है।

अवसरों-आयोजनों में शरीक होने के नाम पर हम अपनी व्यस्तता का रोना रोते हैं, छुट्टी और व्यवसाय का बहाना करते हैं और रिश्तों

के बीच लाभ- हानि वाली वणिक्-बुद्धि लगाकर सौदेबाजी करते हैं। यह माना कि परिस्थितियाँ बदली हैं और मानक बदले हैं पर जीवन-मूल्य तो नहीं बदला। पहले भी परोपकार, सहिष्णुता, परकातरता और सेवा जैसे मूल्य श्रेष्ठ थे, आज भी वही श्रेष्ठ हैं। फिर हम इनसे मुँह क्यों मोड़ रहे हैं? यह ठीक है कि तब हमारा परिवार संयुक्त हुआ करता था, हमें रोजी-रोटी के लिए कहीं बाहर नहीं भटकना पड़ता था और हमारे घरों के दालान में भी इफरात जगह थी! अब वे परिस्थितियाँ नहीं रहीं। चीजें बँटकर और सिमटकर छोटी जरूर हई हैं लेकिन उससे भी ज्यादा हमारा हृदय छोटा हो गया है।

कहते हैं दृष्टि बदलने से सृष्टि बदल जाती है। हम यदि जिंदगी को सकारात्मक नजरों से देखें, हर पल को एक उत्सव की तरह जिएँ और दूसरों के लिए भी पल-पल ख्वाहिशमंद रहें तो यह दुनिया क्या हमें स्वर्ग-सी नहीं दिखेगी।

जीना तो हर पल अपने लिए और औरों के लिए संजीदगी से मरने का नाम है। जो जितना पल-पल मरता है, वह उतना ही पल-पल जीता है। राम और कृष्ण, ईसा और महावीर, गुरु गोविंद सिंह और मीरा ने दूसरों के लिए मरना सीखा था इसलिए वे जी सके। जो दूसरों की गलियों में गुलमोहर के लिए बेचैन रहता है, उसकी गली बगैर गुलमोहर के नहीं रहती, जो दूसरों की हथेली सजाता है, उसकी हथेली स्वतः सज जाती है। अतः हमें जिंदगी का अर्थ ठीक से समझना होगा। आखिर जिंदगी तो हम जी ही लेते हैं…!! कभी जिंदगी को जी कर देखा है…, या जी भर देखा है…? ऐसा

करें… कि जिंदगी को जीत कर ही देख लेते हैं! यकीनन सारे टंटे ही खत्म हो जाएँगे…! हम खुद ही नहीं करना चाहते…! अगर सच में चाहत है…, तो बस एक काम करें…, जिंदगी शब्द के बदले, एक ऐसा नाम लिखें…, जो सबसे ज्यादा प्रिय हो…! सारा तानाबाना समझ आ जाएगा…!! जिंदगी को कुछ समझने की कोशिश…, या समझाने की…??

□

# गन-तंत्र

कहते हैं कि आजादी का इतिहास रक्त-रंजित पन्नों पर ही लिखा जाता है। सच भी है, क्योंकि मुक्ति के लिए संघर्ष को छोड़कर दूसरे जो रास्ते हैं, उन्हें कोई अख्तियार करना नहीं चाहता। जारों के सामने मजदूरों ने कम विनती न की होगी, हमने भी अंग्रेजों की स्तुति में भला क्या कसर छोड़ी थी, पर बदले में उन्होंने क्या दिया!

और तो छोड़िए, महाभारत टालने के लिए शांतिदूत श्रीकृष्ण ने क्या एड़ी-चोटी एक नहीं किया था, किंतु क्या हल निकला! बुद्ध, महावीर और गाँधी के संदेश दुनियाभर में गए, किंतु आज हम उसका कितना मोल समझते हैं। 'बौद्ध' को आत्मसात करने वाला चीन पहले भी हमसे बारठ-चौसंठ कर चुका है और आज भी साल में चौदह-पंद्रह बार घुड़कियाँ दिखा डालता है। जिस पाकिस्तान को वजूद दिलाने में गाँधी ने उदारता और अहिंसा को सर्वोपरि माना, आज हमारा पड़ोसी 'पाक' उसी पवित्रता की धज्जियाँ उड़ा रहा है।

दुनिया को अपनी राह जाने दीजिए, किंतु हमारी अपनी राह केसी है! तथ्य चाहे जो हो पर हम मानते हैं कि धैर्य, सहनशीलता, उदारता और अहिंसा की बदौलत हमने अपनी आजादी हासिल की। हमारा स्वराज का सपना पूरा हुआ। हमारे कर्णधारों की आँखों में एक उम्मीद जगी कि अगले दस-बीस वर्षों में घर-घर में उजाला होगा, शिक्षा और समृद्धि से हम रू-ब-रू होंगे। पर पिछले छह दशकों में क्या हुआ!

क्या सचमुच गण-तंत्र आज भी गन-तंत्र नहीं

यह सच है कि रोजी-रोटी की सुविधाएँ बढ़ी हैं, खुलकर बोलने और हँसने के अवसर बढ़े हैं, आत्मगौरव और स्वाभिमान बढ़ा है पर उस अनुपात में नहीं, जिसकी हमारे कर्णधारों को अपेक्षा थी। आज भी देश के कोने-कोने में भूख और अशिक्षा है, बेबसी और बेइंसाफी है, अभाव और आन्दोलन है, शोषण- उत्पीड़न, उपेक्षा और अनादर है। क्या हम अपने गणतंत्र के हीरक जयंती के इंतजार में हैं, क्या उससे पहले इन विषमताओं के खात्मे में हमारी बेवकूफी और बेइज्जती है या फिर हम इस पुरजोर कोशिश में हैं कि गन-तंत्र पूरी तरह अपना पैर पसार ले।

आज हमारे संसद में जो हो रहा है, उससे बड़ी चिंता होती है। दूर-दूर तक कोई एका या साझा दिखाई नहीं देता, जरूरी मसलों पर चर्चा होने से पहले ही कार्रवाई स्थगित हो जाती है और हमारे प्रतिनिधि आरोप-प्रत्यारोप की पारी खेलकर मैदान से कूच कर जाते हैं। चुनावों की दशा तो और बुरी है। लोकतंत्र के इस महापर्व में अर्घ्य-सामग्रियों की जो बोली लगती है, पवित्रता के गंगाजल में जो कचरे मिलाए जाते हैं और बारूद सनी बत्तियों से जो दीप जलाए जाते हैं, वे पूरब में अन्धेरा फैलाने के लिए क्या कम हैं?

आज गणतंत्र के इस महापर्व पर और क्या कहूँ-गण-तंत्र दिवस

की हार्दिक शुभ कामनाएँ…!! ईश्वर से प्रार्थना है, यह "गण-तंत्र" कभी भी "गन-तंत्र" में तब्दील न हो…!! अपने देश के गणों की रक्षा के लिए 'गन' का प्रयोग हो…उत्तम है …!! आप सबों को, अपने जमीर की शुभ कामनाएँ ! (अब मैं चला…, मेरी जलेबी ठंडी हो रही है…।)

□

# मस्त-ऐ-खुदा, कश्त-ऐ-डगर

जीवन में खुशी का अपना स्थान है और द्विविधा का अपना घेरा। एक तरफ प्रसन्नता है, दूसरी तरफ तनाव और बीचोबीच द्वंद्व! कितने सौभाग्यशाली होते होंगे वे लोग, जो एक ही धोती जीवन भर पहनकर भी सदा खुश रहते होंगे। मैंने सुना है, पुराने जमाने में लोगों की जरूरतें बहुत सीमित थीं, मिरजई थी पर पहनते नहीं थे, पीतल के लोटे में गोएठे की आग रखकर कलफ चढ़ा लेने के बाद उसे कंधे पर रख लेना ही अपार प्रसन्नता प्रदान करने के लिए काफी था। धोती फटने-फटने तक पुरानी नहीं पड़ती थी, जब मैली होने को आई तो एक पुड़िया रंग में डुबोकर नई कर ली। कहाँ गया वह जमाना और कहाँ गए वे लोग!

आज हमारे पास एक मोटर है तो दूसरे की चिंता खाए जा रही है, एक बंगला है तो और के जुगाड़ में ही दिन कटता है। आधुनिकता ने हमें कितना असंतुष्ट और अमानवीय बना दिया है! हमारा सारा ध्यान ऐसी बातों पर केंद्रित हो गया है, जिसके बिना भी हमारा जीवन सुगमता और प्रसन्नता से व्यतीत हो सकता है। किंतु, आज जिसे देखिए हाँफता हुआ मिलेगा। भविष्य की चिंता ने हमें इस कदर परेशान कर रखा है कि हम न तो अपने गौरवशाली अतीत को भर आँखों देख पाते हैं और न ही अपने वर्तमान को प्यार से जी पाते हैं। हमारी आँखें अंधकार में भटकने का अभ्यस्त हो रही हैं। मनुष्य का मान इसमें

है कि वह अपने अतीत के गौरव को दुहराये और दुर्बलताओं का परिष्कार करे। 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' का अनुसरण करे और गुफाओं से बाहर निकलकर परिवार, समाज, राष्ट्र और संसार की परिकल्पना करने वाले पूर्वजों के पद्चिह्नों पर निरंतर बढ़ता चले। पर वर्तमान समाज तो भूल-भटक रहा है। वह देश-दुनिया और समाज की सीमा से बाहर कहीं दूर अपना एकांत साम्राज्य चाहता है। अथवा यह चाहता है कि चाँद से मंगल तक अकेला उसी की हुकूमत कायम रहे।

आज सरहद पर द्वंद्व है, समाज और घर में द्वंद्व है क्योंकि हमारे मन में द्वंद्व है। हमारी पशुता रह-रह कर हम पर हावी होती है और हम दूसरों के हिस्से का सारा चारा चट कर जाने को बेचैन हैं। स्वमांस देने वाले उशीनर ऋषि कौन थे, अपनी अस्थियाँ देकर कल्याण करने वाले दधीचि किस समाज के थे और अपना सारा राजपाट दानकर सत्पथ पर अडिग रहने वाले श्री हरिश्चन्द्र को किस मिट्टी ने बनाया था! क्या आज वह सूरतेहाल बरकरार नहीं रखा जा सकता!

हमारे सामने तमाम एषणाओं, द्विविधाओं और द्वंद्व से निकलने का अत्यंत सुगम और प्रशस्त मार्ग मौजूद है, जिसका पहला छोर हमारे मन में ही मौजूद है। रमते योगियों ने कहा भी है- "उधो! मन चंगा तो कठौत गंगा।" मन से मस्त रहें, जो मिलता है, खाएँ और खुश रहें और अपनी राह चलते जाएँ, फिर द्वंद्व हो या द्विविधा किनारे खिसक जाएगी। एक तो मनपसंद भोजन मिलने के बाद की खुशी, कुछ इसी

रूप में ...!! दूसरा, जीवन के किसी चौराहे पर जब द्विविधा आपके मन–मस्तिष्क को उद्वेलित करे, आपके मानस को जब भी कोई दोराहा, किसी एक अज्ञात राह पर चलने को विवश करे..., तो बस अपने आप को, कुछ ऐसे ही आनंदित करके चल पड़ें किसी राह पर ..., और मुस्कराहट से भर दें, हर आने वाले डगर को...!! "मस्त–ऐ–खुदा... कश्त...ऐ...डगर" बस और क्या!

□

# बसियौरे का स्वाद

मन में एक विचार आया कि हमेशा टटका- टटकी खाने से अच्छा है, एक बार बसियौरा भी खाया जाये…। फिल्म-समीक्षा लिखने पर, किसी भी प्रकार का अर्थ-लाभ तो होता नहीं, फिर अपना पैसा गलाकर, फर्स्ट डे का आनंद ले, फोकट में फेस-बुक पर पोस्ट करके ईमार्क जुकेरबर्ग के खजाना को और क्यों बढ़ा दूँ? इसी मानसिकता से फिल्म 'क्वीन' के रिलीज होने के करीब दस दिन बाद धर्म-पत्नी को कन्विंस करके देखने पहुँचा। यूँ मानता हूँ कि नयेपन में एक अलग आकर्षण होता है और उसका अपना महत्त्व भी होता है। यदि हम कोई नई घड़ी लेते हैं, नये कपड़े सिलाते हैं तो उसके इस्तेमाल की ललक बनी रहती है और इस हेतु हम हर छोटे-बड़े अवसर की तलाश करते हैं।

अक्सर ऐसा देखने में आता है कि नया पुराने को पीछे छोड़ता उस पर भारी पड़ता चलता है। ऐसा इसलिए होता है कि हर नवीन-प्राचीन का परिष्कार होता है, उसमें पुराने की अच्छाइयों और गुणवत्ता के साथ

कुछ नई खूबियों का समावेश हो जाता है। किंतु, नये के आकर्षण में हम पुराने का परित्याग नहीं कर सकते। कपड़े और चीजों की बात और है पर परंपरा, संस्कृति और विरासत की और। यदि नवीन की चकाचौंध में हमने प्राचीन से मुँह मोड़ लिया तो हमें अपनी जड़ से जुदा होते देर नहीं लगेगी और तब हमारा अस्तित्व ही संकट में पड़ जाएगा।

यह एक तथ्य है कि हमारा भूत जितना समृद्ध होगा, भविष्य उतना ही सुखद और वर्तमान उतना ही संतोषजनक। विकास और उन्नति रातोंरात घटित होने वाली प्रक्रियाएँ नहीं हैं, इनके लिए तो सतत क्रमबद्धता की ही जरूरत होती है।

नई उम्र में अनुभवहीनता के कारण आदमी अनेक गलतियाँ करता है, किंतु उनको दुहराते जाना ठीक नहीं। नई उम्र में हृदय उमंग और उल्लास से भरा रहता है, अंदर में इतनी बेचैनी बनी रहती है कि सही-गलत पर विचार करने का अवकाश कहाँ मिलता। आज का शायद ही कोई ऐसा आदमी हो, जिसने सिनेमा के फर्स्ट शो के लिए नई कमीज के बटन न तुड़बाये हों, यदि यह सुअवसर उसने खुद न पाया हो तो भी मित्र-मंडली के किसी योद्धा को जुझते हुए देखकर हर्षित होने का सौभाग्य तो मिला ही होगा। बहरहाल मैंने तो रिलीज होने के दस दिनों बाद ही यह फिल्म देखी। इस बीच निश्चय ही फिल्म की समीक्षा और सारांश भी मुझ तक पहुँच गए थे, किंतु मैं मानता हूँ कि इससे फिल्म के स्वाद और जायके में कोई अंतर नहीं आया क्योंकि देखना तो बस अपनी आँखों से देखना है बाकी तो सब भ्रमजाल है।

कुछ चीजें तो ऐसी होती हैं तो बासी होने पर ही असली आनंद छोड़ती हैं। टटके पिट्ठे और टटके पुए में भला क्या आनंद है, कभी बासी खाकर देखिए, स्वाद समझ आ जाएगा। दूसरे अनेक संदर्भों में भी यह बात ऐसे ही लागू होती है, शायद कुछ फिल्मों के संदर्भ में भी!

□

# अंतःप्रज्ञ

यह संसार अपनी विविधताओं से बड़ा चकित करता है। विधाता ने इसे पता नहीं किन तुलिकाओं से आकार दिया कि दुनिया इतनी निखर कर सामने आई। रंग-बिरंगी तितलियाँ, खूबसूरत फूल, पेड़-पहाड़, नदी-झरने, पशु-पक्षी और न जानें क्या-क्या, किंतु सबों के बीच इतनी विविधता कि अवाक् रह जाना पड़ता है। आखिर इतनी खूबसूरती का बखान किन शब्दों में किया जाए! आश्चर्य तो यह है कि एक ही प्रजाति के प्राणियों के बीच अनेक साम्य होने पर भी ऐसे अनेक व्यक्तिगत अंतर हैं कि सहज विश्वास नहीं होता।

मैं ज्यादा दूर नहीं जा रहा हूँ। यदि केवल अपने मित्रों के बारे में ही विचार करूँ तो देखता हूँ कि हम सबों के रूप-रंग और स्वभाव में बहुत-सी समानताएँ होने पर भी अनेकानेक विविधताएँ हैं। खाने, पहनने, बोलने-चालने से लेकर घूमने और सोने में भी यह विविधता परिलक्षित होती है। जहाँ तक मेरी बात है, अगर तीन-छह महीने में कहीं एक नई जगह घूम नहीं आया तो

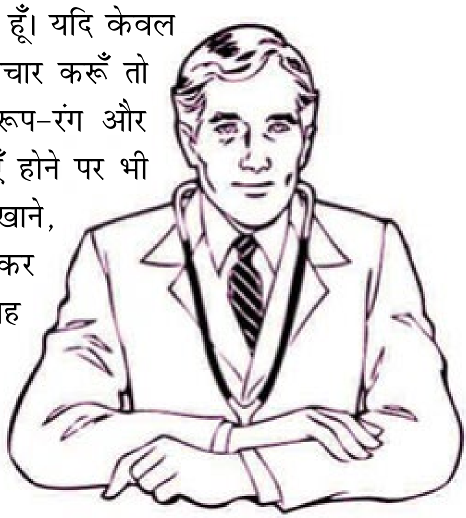

जीवन व्यर्थ लगने लगता है। किसी शिक्षा- शास्त्री, पुरातत्त्ववेत्ता या संगीतकार की संगति नहीं मिली तो जी अजीब-सा उचटने लगता है, किंतु मेरे मित्रों में कई ऐसे हैं, जो भरे-पूरे होने पर फुरसत और इत्मीमान के बावजूद घूमने के नाम से ऐसी कन्नी काटते हैं मानो उनके बाहर निकलते ही प्रलय आ जाएगा। इनमें एक तो ऐसे सज्जन हैं, जो सूर्य का दर्शन भी घर की खिड़की से ही करना पसंद करते हैं। उनके लिए दुनिया के खेल-तमाशे, सिनेमा-सर्कस और बाग -बगीचों का कोई मोल नहीं है। टोकने पर बड़े गुरुर से बोल उठेंगे-"दुनिया में कहीं भी जाओ, सारी चीजें बस एक-सी दीखती हैं। उनके लिए सागर की उफनती लहरों और बाल्टी के स्थिर जल में कोई अंतर नहीं है क्योंकि आखिरकार दोनों तो जल ही ठहरे। मैं समझता हूँ कि यदि महात्मा कबीर इस युग में हुए होते तो इन महात्मन् के चरणों की शरण गहते और कहते कि सृष्टि के रहस्य को एक आपने ही ठीक समझा है।

कहते हैं कि विचार भी एक ऊर्जा है और इसके द्वारा हम एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं, किंतु मैंने इन्हें किसी के विचार से अब तक प्रभावित होते नहीं देखा।

उदासी और अफसोस, ग्लानि और पीड़ा से परे इस महात्मन् की सबसे बड़ी खूबी है अन्तरावलोकन। अपने भीतर उतरना, खुद में मस्त रहना और दुनिया की तमाम चीजों से निर्मोह होना तो कोई इनसे सीखे। एक जगह स्थिर रहकर भी इतना गतिमान रहा जा सकता है, यह बात तो इन्हें ही देखकर समझ में आती है। इनके लिए तो मैं बस इतना ही कहूँगा कि बस, आप ऐसे

ही मस्त रहें..., और निश्चिय ही... अपने आप में अस्त रहें!! न हम बदले, न समाज और न ही हमारी मानसिकता...! हाँ, तिथि बदली है..., चलिए, इसी रूप में इसे भी स्वीकारते हैं...!! कुछ नये की शुभकामनाएँ!!

□

# इस पथ पर जिनसे स्नेह मिला

पनघट की राह बड़ी कठिन होती है, किनारे की चिकनी मिट्टी और घाट का निर्मल जल कोमल पाँवों के घर्षण से इतना सरस हो जाता है कि फिसलन बढ़ जाती है। हमारा जीवन भी कुछ ऐसा ही है।

थोड़ा-सा ज्यादा स्नेह हमें भुला-भटका सकता है और जरा-सा स्नेह सँवार भी सकता है। कुछ लोग ऐसे भी होते हैं, जो दुर्भाग्यवश जीवनभर शुष्कता झेलने को ही विवश होते हैं, घाट पर पहुँचकर भी उन्हें नमी नसीब नहीं होती। अगर जीवन में स्नेह और दुलार न हो, चाहने वाले और आशिषने वाले न हों तो जीवन बड़ा नीरस और एकांगी हो उठता है।

आदमी की औकात ही क्या है! अस्सी-सौ वर्षों की अवधि पूरा होते-होते कूच कर जाना है। इस बीच भी अनेक झंझावात और झमेले झेलने हैं। वह साया खोना है, जिसके तले साँस लेने का आदी है, वह सामियाना खोना है, जिसके भीतर वह स्वयं को महफूज समझता रहा है, वह शरीर खोना है, जिसके बल पर उसने इतने मंसूबे गढ़े हुए थे। खोना बहुत कुछ है पर पाना क्या है? पाने के लिए बस एक ही चीज है- प्रेम। जिसने इसे पाने की चेष्टा नहीं की या जिसे यह मिल नहीं पाया, समझो वह अभागा है। बहुत-से लोग धन, पद और नाम को पाना ही पाना समझते हैं, पर इनके लिए दिन-रात हाँफने से क्या

फायदा! सोने से अंग भरता है, मन नहीं भरता। गेहूँ से पेट भरता है पर मन की प्रफुल्लता के लिए तो गुलाब ही चाहिए।

जब-जब इन बातों पर मैं सोचता हूँ तो बड़ा शकुन मिलता है कि चलो मेरे पास और सारी चीजें हो न हो, पर स्नेह-दुलार का अकूत भंडार है। यह इतना भरा पड़ा है कि भर-भर मुट्ठी बाँटने से भी भंडार खाली होने वाला नहीं। किंतु, इसमें मेरा अपना कितना है, कह नहीं सकता। मेले-ठेले, उत्सव-आयोजनों में जाता रहता हूँ, लोगों से मिलता-जुलता रहता हूँ, कविताएँ करता हूँ, ढोल-ड्रम पीट लेता हूँ, फेसबुक और वाट्सएप्प में दुनिया की तस्वीर निहारने के साथ- साथ गरीब और निराश्रित बच्चों के बीच हकीकत में बैठ सुस्ता लेता हूँ तो लगता है कि सारा जहां मेरे साथ है। इसे पथ कहूँ, कुपथ कहूँ, सुपथ कहूँ, वनराजी कहूँ या डगर पनघट की, पर इस राह में चलते हुए जिन्होंने भी स्नेहसिक्त किया उन्हें आजीवन हृदय में बसाए रखना चाहता हूँ। अभी तो बस इतना ही कहूँगा-

**गर, धरा साथ दे, तो क्या बात है… !**
**बस, तुम साथ दो, तो और बात है…!!**
**होली की रंगीनियत, बेकसूर रहे…!!**

□

# जनम कृतारथ होए

मनुष्य का जन्म प्यार पाने और प्यार लुटाने के लिए हुआ है। जन्म लेकर वह माता-पिता और परिजन-पुरजन का लाड़-दुलार पाता है और बड़ा होकर देश-दुनिया का। किंतु, जितना वह पाता है, उसी अनुपात में उसे देना भी पड़ता है। माता-पिता, भाई- बहन, परिजन-पुरजन, मित्र और सहकर्मी सबके प्रति हमारा कुछ कर्तव्य होता है, जिसे हमें पूरा करना पड़ता है। हम अपने हृदय का जितना विस्तार करते जाते हैं, संबंधों का दायरा उतना ही बढ़ता जाता है।

एक रिश्ता खून का होता है और दूसरा भावनाओं का। भावनाओं के रिश्ते स्वतःस्फूर्त और स्वनिर्मित होते हैं, कितु खून का रिश्ता पारंपरिक होता है। एक शुद्ध भावाधारित है और दूसरे में भी भाव की जरूरत होती है, क्योंकि बिना भाव के संबंध की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

ऐसे सूक्ष्मता से विचार करने पर सारा संसार ही कुटुम्ब ठहरता है। यदि हम अतीत के पन्नों में जाएँ और मानव-इतिहास के बारे में विचार करें तो हमें यह बात अच्छी तरह समझ में आएगी कि मानव-मात्र ही सहोदर है और यदि इतिहास से निकलकर अध्यात्म की दृष्टि खोलें तो प्राणिमात्र ही कुटुम्ब है, क्योंकि हम सभी एक ही परमात्मा की संतान हैं।

परमात्मा ने किसी को विभाजित करके नहीं भेजा और न ही कोई

कोटि निश्चित की। उसकी नजर में तो सब समान है और वह सब पर एक समान स्नेह और कृपादृष्टि रखता है। वर्ग–विभाजन और श्रम–विभाजन तो हमारी आवश्यकता बनी और समाज ने सुविधा के लिए इसे लागू किया। कालान्तर में लोग आवश्यकता के इस मूल उद्‌देश्य से भटकते चले गए और आज आकर जाति, वर्ग और संप्रदाय का स्वरूप विकृत और जहरीला हो गया।

हमें यह समझना चाहिए कि सृष्टि के कण– कण में एक अमंद अनुराग भरा हुआ है। अगर ऐसा नहीं है तो सूरज के उगने पर चिड़ियाँ क्यों चहक उठती हैं और चाँद को देखकर चकोर क्यों टकटकी लगाता है। आप प्रेम करके देखिए, इन अनबूझ पहेलियों का उत्तर आपकी समझ में आने लगेगा। प्रेम में एक पवित्रता है, उसमें अमरता और दिव्यता है। उसकी शक्ति असीम है। वह प्राणी और पदार्थ को जिलाता और मारता है। प्रेम में वियोग ही महा दुख है और मिलन ही महासुख।

जिसने अपने जीवन में प्रेम नहीं किया, राग–रंग नहीं लुटाया,

आराधना–पूजा नहीं की, सिर थाली में सजाकर प्रस्तुत नहीं किया, मान–मनौवल नहीं की, समझो वह जीव नहीं है और जड़ भी नहीं।

हमारे जीवन में प्रेम का जितना महत्त्व है, उससे कहीं ज्यादा दाम्पत्य का क्योंकि दाम्पत्य–प्रेम को सभी वर्गों की समान स्वीकृति है। हमारे लोक–प्रचलित विश्वासों के अनुरूप पति–पत्नी जब एक दूसरे का हाथ थामते हैं तो कम–से–कम सात जन्मों तक अटूट बने रहते हैं। आज से ठीक तेरह वर्ष पहले मैंने अपनी पत्नी का हाथ थामा था···। हे ईश्वर! हम दोनों के हाथों में इतनी शक्ति दो कि एक–दूसरे को थामने के लिए किसी तीसरे हाथ की जरूरत न हो···। आज हमारी शादी की वर्षगांठ है···, शुभेक्षित आशीष चहुँ–ओर व्याप्त हो···!! जन्म–जन्मांतर में यह भाव बना रहे तो जन्म कृतार्थ हो जाए।

□

# लघु न दीजिए डारि

बहुत–से लोग बड़प्पन में जीवन की सार्थकता समझते हैं। बड़प्पन भी केसी, अधम कोटि की। आप कहेंगे कि यह केसी अजीब बात है कि जब बड़प्पन है तो फिर अधमता केसी!

आजकल बड़ाई के जो मानक खड़े हुए हैं, उनको जान–समझकर मन बड़ा विचलित हो उठता है। बड़ी गाड़ी, बड़ा बंगला, चमकते कपड़े और जूते, प्रायः यही वे चीजें हैं, जिनके आधार पर हम किसी को बड़ा मान लेते हैं। साधना और साहित्य, कला और संगीत, सेवा और सहायता आज किसी मूल्य के नहीं रहे और यदि इनका कुछ मूल्य शेष भी है तो चाँदी के चन्द सिक्कों की खनक में वे सब खो गए हैं। आज आप किसी भी समाज में बैठ जाइए, चर्चा का केन्द्र कोई राजनेता होता है या अंडरवर्ल्ड का सरगना। यदि चर्चा अच्छी और सकारात्मक हुई तो फिल्म अभिनेता या उद्योगपति तक आते–आते रुक जाएगी। किसने केसे उम्दा साहित्य की रचना की, किसने बुद्ध और महावीर की करुणा–धारा को आगे बढ़ाया, किसने गाँधी और गोखले की तरह समाज को दीप दिखाया, ऐसी बातें शायद ही कभी सुनने को मिले। यदि दुर्भाग्य से कोई बात पास–पड़ोस तक आ सकी तो फिर कहना ही क्या है? किसका बेटा, उसकी एक भी बात नहीं मानता, किसे महाजन से बेइज्जत होना पड़ा है, किसके घर की बहुएँ सास की इज्जत उतारती हैं और किसके बच्चे पढ़ाई के नाम पर शहर में अवारागर्दी करते हैं–

इन्हीं सारी बातों में हमारी प्रबुद्धता और दक्षता प्रकट होती है। हम ईर्ष्या और द्वेष से उबरते हैं तो शक की राह धरते हैं और इनसे हमारा प्रयोजन सधता न दिखा तो इन सबों को घृणा की कमीज पहना देते हैं। हमारा पड़ोसी आज हमारे लिए सबसे घृणित व्यक्ति है और उसके बच्चे निहायत बेकार। हम अच्छाई और आदर्शों की कद्र नहीं कर पाते, किसी के अच्छे किए पर हमारा मन गद्गद नहीं होता और किसी की प्रशंसा हमसे सहन नहीं होती। क्या इस मशीनी और महत्त्वाकांक्षी युग ने हमारी सारी परंपरा हमसे छीन ली है।

हमें यह सोचना होगा कि वे कौन-सी चीजें हैं, जिनके प्रलोभन में हम अपनी परंपरा और विरासत को तिलांजलि दे रहे हैं। आज हमें न तो बाँसुरी की दर्द भरी तान रुला पाती है और न ही नगाड़े की चोट पर हमारी छाती फूलती है। महुए-सहुए की गंध, चिड़ियों की चुलबुलाहट और नदियों की चंचलता, हमारे लिए किसी में कोई सौंदर्य शेष नहीं है, लगता है जैसे हमें काठ मार गया हो। और तो जाने दीजिए, अगर हमारे बच्चे का जन्मदिन है तो हमारी कोशिश होती है कि किसी रेस्तराँ में

जाकर रुपये फेंककर खुशी बटोर ली जाए, कितने दुर्भाग्य की बात है कि हम प्रसन्नता और उमंग के लिए भरे बाजार में भटक रहे हैं और अपना घर उदास पड़ा है। यदि दीनारों से ही खुशी खरीदी जा सकती है, तब तो सबसे ज्यादा खुश उस दैत्य को होना चाहिए, जो दीनारों की पोटली लिए खंडहर में जाकर बैठा था। खुशी का पूर तो हमारा घर होता है। हमारे आस-पास जो लोग हैं, उनके साथ मिलने-बैठने, हँसने-खिलखिलाने से हमें खुशी मिल सकती है, भला अपरिचित और अनजान लोग हमारी खुशी का क्या कारण हो सकते हैं?

यदि बच्चे का जन्मदिन है तो उसकी खुशी तो बच्चों की धमाचौकड़ी से ही पूरी होगी। जब तक घर भरेगा नहीं, चीजें अस्त-व्यस्त नहीं होगी, जूते-चप्पल बेतरतीब नहीं होंगे, मिठाइयाँ और सेवइयाँ चट नहीं होंगी तो आनंद क्या रह जाएगा। अरे भाई…। गलत मत समझना… सारे बच्चों के मिठाई खाने के बाद, दो टुकड़े बचे। उन्हीं दो मिठाई के टुकड़ों को, सारे बच्चों ने सामूहिक रूप से, एक ही बार में…!! समझ गए न आप। जन्मदिन मनाने का, अपना वाला ईश्टाईल…! इन्हीं बच्चों के साथ…!! कभी आप भी कोशिश करें…, अच्छा महसूस करेंगे…!! क्योंकि प्रसन्नता की कौन कहे, प्रभुता भी लधुता में ही छिपी है।

□

# एके आषिर पीब का

इस संसार का आधार प्रेम है। प्रेम के कारण ही सारे प्राणी-पदार्थ हैं। यह दुनिया केसे वजूद में आयी और इस दुनिया के अलावा और कौन-कौन-सी दुनिया है, इस बात पर पहले ही बहुत माथा-पच्ची हो चुकी है। हमारे मनीषियों, शास्त्रकारों और दार्शनिकों ने इस संदर्भ में बड़े गंभीर विचार प्रस्तुत किए हैं और हमारे आधे से अधिक आर्षग्रंथ इसी रहस्य के उन्मूलन में रचित हुए हैं। आज भी हमारे वैज्ञानिक तरह-तरह के अनुसंधानों से इस तथ्य को नवीनता का आवरण चढ़ाते रहते हैं।

हमारे देश और दुनिया के वैज्ञानिकों और इक्के-दुक्के दार्शनिकों के मुताबिक यह सारी सृष्टि अनादिकाल से मौजूद तत्त्वों के परस्पर संघर्ष और प्रतिक्रिया का परिणाम है, हमारे मनीषियों ने इसे ही पंच महाभूतों का महामिलन कहा है। यहाँ ध्यान देने की बात यह भी है कि जिसे हम संघर्ष या प्रतिक्रिया कहते हैं, उसे सहज आकर्षण और उसका स्वाभाविक परिणाम भी तो कहा जा सकता है। शास्त्रकारों ने इसे ही तो प्रकृति और पुरुष का महामिलन कहा है। जो भी हो, सृष्टि के निर्माण में प्रेम की सत्ता को हम अस्वीकार नहीं कर सकते। मैं तो यह समझता हूँ कि बिना करुणा, प्रेम और अनुराग के कोई सृजन संभव ही नहीं है और जब यह संसार एक सृजन है तो इसके पीछे भी कोई लय या राग अवश्य विद्यमान है। अगर ऐसा है नहीं तो पहाड़

और पत्थरों को देखकर, नदियों और झरनों को देखकर, फूल और पत्तियों को देखकर हमारे मन में अनुराग केसे उत्पन्न होता है? क्या यह सारी सृष्टि तत्वतः एक नहीं है, जिन तत्त्वों से सोने, हीरे, नीलम और पन्ना बने हैं, जिनसे मूँगे और मोती का निर्माण हुआ है, जिनसे पत्थर और पेड़ की उत्पत्ति हुई है, उनसे क्या हम अलग हैं? एक आन्तरिक राग है, एक लय और तरलता है, जो हम सबों में एक-सा विद्यमान है। मैं तो समझता हूँ कि क्रौंचवध के परिणामस्वरूप महर्षि वाल्मीकि के श्रीमुख से अकस्मात् निःसृत कविता और पिनाकभंग के समय जनक की सभा में परशुराम के चित्त में उत्पन्न क्रोध के मध्य भी कोई सहज साम्य और तारतम्य है। क्योंकि परोक्ष या प्रत्यक्ष दोनों का कारण प्रेम है। महाकवि भवभूति ने करुणा को ही एकमात्र रस मानकर हमारे चित्त की इसी स्वाभाविक महादशा की ओर संकेत किया है। क्या करुणा ही वह मूल मनोविकार नहीं है जो क्रोध, अमर्ष, शोक और घृणा आदि विकारों की धात्री या जननी है!

प्रेम के परे संसार में है क्या ? हम किसी के प्रेम में पागल होते हैं, प्रेम में अंधे होते हैं, प्रेमवश हत्या करते हैं, घृणा करते हैं, शोक और पाश्चाताप में पड़ते हैं और प्रेम में ही जीते-मरते हैं। दिलचस्प बात तो यह है कि यह प्रेम हमें किसी हाट-बाजार में नहीं मिलता बल्कि स्वयं हमारे भीतर से उद्भुत होता है। इसके हमारे भीतर से प्रकट होने का क्या अर्थ है, यही न कि यह हमारे अंदर मूल रूप से मौजूद है। क्रोध तो हमें किसी के दिलाने से आता है, ईर्ष्या तो हम किसी की उपलब्धि या स्पर्द्धा में पीछे रहने से करते हैं; किंतु प्रेम हम किसी के कहने से नहीं करते। कभी-कभी तो हमारे प्रेमपात्र को कुछ भी पता नहीं रहता; पर हम उसके प्रेम में मरते रहते हैं। कौन जानता है कि कबीर के ब्रह्म और मीरा के कृष्ण को अपने इस अनन्य प्रेमी की खबर कब लगी। क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष, उमंग, उत्साह का पसारा सब जगह नहीं हो सकता किंतु प्रेम तो पवन की तरह अरूप या जल की तरह सरूप सर्वत्र व्याप्त है।

कुछ लोग प्रेम को कोटियों में विभक्त कर देखते हैं। सांसारिक प्रेम, राष्ट्रप्रेम या आध्यात्मिक प्रेम आदि व्यारव्याएँ सहज ही पढ़ने-सुनने को मिलती हैं, किंतु प्रेम तो प्रेम है। जैसे रंगों में उज्ज्वल या श्वेत है, वैसे मनोविकारों में प्रेम है। यह चिरस्थायी या शाश्वत है और इसी के होने से सबका होना संभव है। तो क्या यह उचित नहीं होगा कि आज अपने लहरों पे सुला

के··· निर्मल अधरों का मोती बना लो···!! चाहता हूँ मैं हर किसी के ख्वाबों का ही तन-मन से, चुराकर नींद का फलक ही, नींद का फलक ही चुरा लूँ!! कोशिशें गर तुमने भी की··, केश राशि की उलझनों को···!! सलवटें कुछ कह रहीं कि··· भोर होने की वजह हो···!!

□

# जामै कुटुम्ब समाय

एक जमाना था, जब संसार को मोक्ष की चिंता सताए रखती थी और उसे पाने के लिए वह हजार उपक्रम करने को तैयार रहता था, और आज एक जमाना है कि लोगों को सुख की चिंता खाए जा रही है और उसे पाने के लिए दर-दर भटक रहा है। किंतु, यह सुख है, जो किसी विरले के हाथ लग रहा है।

आज कौन सुखी है; व्यापार में स्पर्द्धा है, राजनीति में गँठजोड़ और वादा खिलाफी है, नौकरी-पेशे में धाँधली है, समाज में द्वेष है, कहचरियों में नाइंसाफी है, दफ्तरों में भ्रष्टाचार है और परिवार में कलह है- आखिर आदमी जाए तो जाए कहाँ! किस पर विश्वास करे, किसे प्रेम दे और किसके लिए जिए! जिसे देखिए, वही दुखी है। लगता है कि परमात्मा ने अपनी किसी नयी योजना के तहत त्रिलोक का सारा दुख समेटकर एकमात्र प्रबुद्ध प्रजाति में वितरित कर दिया है।

हिंदी शब्दकोश में सभ्यता और संस्कृति दो ऐसे शब्द हैं, जिनपर कदाचित सबसे अधिक चर्चा हुई है और जिनके अर्थ में मन-माफिक विस्तार हुआ है। किंतु, मेरे जानते दो और ऐसे शब्द हैं, जिनपर आज बड़ी चर्चा छिड़ी हुई है, वे हैं- भूख और दुख! भूख शब्द का अर्थ है भोजन की इच्छा, किंतु आज हमारी इच्छाएँ इस प्रकार बढ़ गई हैं कि उन सबों के लिए 'भूख' शब्द ही ठीक ठहरता है। हमारे संस्कृत शब्दकोश में भिन्न-भिन्न इच्छाओं के लिए अलग- अलग इच्छावाची

शब्द हैं, मसलन लिप्सा, तितीर्षा, स्पर्द्धा आदि, किंतु आज के सभ्य समाज के लिए इच्छा का एकमात्र पर्याय है भूख। उसी प्रकार हमारे दैहिक, दैविक और मानसिक पारितापों के साथ-साथ हमारी निरंकुश इच्छाओं के मध्य बाधा बनने वाली स्वाभाविक-अस्वाभाविक किसी भी स्थिति का पर्याय है दुख। हमारी भूख और हमारा दुख दोनों एक-दूसरे से बड़े सघन रूप में अनुबद्ध हैं। कहना तो यह चाहिए की यह भूख ही दुख की जननी है।

आज हम घर या बाहर कहीं भी रहें, दुनिया के किसी कोने में चले जाएँ, कितनी भी ऊँचाई पर रहें, हमारी भूख नहीं मिटती और फिर जब भूख नहीं मिटेगी तो भला दुख कहाँ से मिटेगा। आपने सुना होगा कि जलेबी बनाने और बाँटने वाले को जलेबी की भूख नहीं होती और रसोई पकाने वाला महाराज प्रायः चावल छोड़कर चूड़ा-सब्जी खाना पसंद करता है। गरज यह कि जो चीजें हम बाँटते हैं, उन चीजों को बाँटकर ही हम इतने संतुष्ट हो जाते हैं कि हमें उसकी भूख नहीं होती और जब उसकी भूख नहीं होती तो उसके लिए हमें कोई दुख भी नहीं होता। हमारे पुराणकारों को यह ठोस सत्य हाथ लग गया था, तभी तो उन्होंने परोपकार को एकमात्र पुण्य की संज्ञा दी थी।

आज हमारा बर्त्तन बहुत छोटा हो गया है, उसमें न तो जिलेबियाँ अटती हैं और न ही चावल। हम बाँटते नहीं, इसलिए भूखे हैं। आप आजमा कर देखिए, कभी बहुत तेज भूख लगने पर, जब भोजन सामने आए... उस भोजन को किसी भूखे बच्चे को खिलाकर..., महसूस करना तुम्हें कई दिनों तक, शायद भूख लगे ही नहीं...! मैं जानता हूँ, आप क्या कहेंगे!

□

# कर्म का मर्म

कहा जाता है कि कर्म ही पूजा है। व्यक्ति अपने कर्मों से ही पहचाना जाता है, प्रशंसित और पूजित होता है। जीवन के पहले 15-20 वर्ष खेलने-कूदने और मौज-मस्ती में निकल जाते हैं, बाद के 10-15 वर्षों में शरीर हमारा साथ नहीं देता। शेष बीच के जो 40-50 वर्ष मिलते हैं, उनका पूर्वाद्र्ध कर्म-कोलाहल की दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण होता है। आदमी चाहे तो इन वर्षों में पहाड़ खड़ा कर सकता है। किंतु, ऐसा होता बहुत कम है। प्रायः जब हम अपने कर्मों के बल थोड़ी-सी ऊँचाई छू लेते हैं तो फिर मद और मान के शिकार हो जाते हैं। हममें एक अजीब अहंभाव आ जाता है और हम सब छोड़-छाड़कर केवल अपनी प्रशंसा या पूजा के लिए लालायित हो उठते हैं। और यहीं से हम पथभ्रष्ट और पतित होने लगते हैं।

हमारे बीच कुछ लोग ऐसे भी होते हैं, जो जीवनभर कोल्हू के बैल बने रहते हैं लेकिन परिस्थितियाँ कभी उनके अनुकूल नहीं होतीं। ऐसे लोग अंततः निराश और हताश होने लगते हैं और सच्चाई, सदाचार और कर्मशीलता से उनका भरोसा उठने लगता है।

किसी भी कर्म का फलाफल परिस्थितियों पर भी निर्भर करता है। मान लीजिए यदि हम जेठ-वैशाख की चिलचिलाती धूप में गुलदाउदी का एक छोटा-सा बिड़वा लगाकर यह आशा करेंगे कि पौधा जल्दी ही चतरकर फूलों से लद जाए और सारे वातावरण को महमह कर

दे तो हमारी यह कामना कभी भी पूरी नहीं होगी। कर्म यदि समय और परिस्थिति का विचार कर किया गया हो, तभी वह फलदायी होता है।

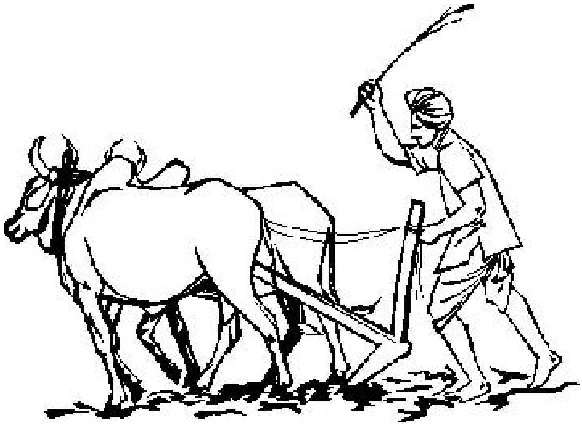

हमारे बीच कुछ लोग ऐसे होते हैं, जो बिना बाहरी दबाव या प्रेरणा के कर्मरत नहीं हो पाते हैं। ऐसे लोग पूरी क्षमता और दक्षता के बावजूद किसी खास ऊँचाई पर नहीं जा पाते। सच्चा कर्म वह है, जो स्वतःस्फूर्त और अंतःप्रेरित हो। किसी लोभ, लाभ या दबाव में किया गया काम न तो खुद के लिए शुभंकर होता है और न ही औरों के लिए उपयोगी।

कुछ लोग ऐसे भी होते हैं, जो आपके हर काम में टाँग अड़ाएँगे। अच्छाई और उपलब्धियों को नकारना ही इनका काम होता है। हमारे बीच करने वाले तो बहुत थोड़े होते हैं लेकिन किए की आलोचना करने वालों, उसमें हजार त्रुटियाँ और दोष खोजने वालों की कोई कमी नहीं है। आप एक छोटी-सी कविता लिखिए, एक छोटा-सा घर बनाइए या फिर छोटा-सा आयोजन कीजिए, आपको सहयोगी या परामर्शदाता मिले ने मिले, आलोचक जरूर मिल जाएँगे।

मैं समझता हूँ कि हमें इन बातों से बेफिक्र होना चाहिए और निष्काम भाव से अपने कर्म में लीन होना चाहिए। क्योंकि यह तो एक कठोर सत्य है कि हम चाहे या नहीं, इच्छा करें अथवा न करें पर हमारे बाद हम केवल अपने कर्मों से ही याद किए जाएँगे। मेरी मान्यता है कि हम अपने कर्मों से केवल वस्तुओं को ही शिल्पित नहीं करते बल्कि हमारा कर्म हमें भी शिल्पित करता है। यही कारण है कि मैं

हर दिन अपनी छेनी और हथौड़ी को धारदार कर लग जाता हूँ, अपने आप को शिल्पित करने में। दर्द मुझे होता है, मैं उफ् भी नहीं करता, किंतु थोड़े-से शोर ने ही आपके कानों में दर्द कर दिया? हद हैं हम और हद हैं आप!! क्योंकि, मैं कर्म जानता हूँ और आप न कर्म जानते हैं और न ही उसका मर्म!

□

# चिंतन के क्षण

आज चहुँदिश हर्षोल्लास का वातावरण है। देश के कोने-कोने में विजय-पर्व का अनुष्ठान अपनी चरम पूर्णाहुति पर है। ऐसे में मन अन्तरावलोकी हुआ जा रहा है। प्रभु श्रीराम एक ऐसे समाज में ही उत्पन्न हुए, जहाँ एक ओर समृद्धि और सुख था तो दूसरी ओर विपन्नता और अभाव। नीति और अनीति का द्वंद्व तब भी था और अब भी है। तब श्रीराम हुए किंतु अब…।

प्रभु श्रीराम अपने कर्मों और उच्चादर्शों से देवत्व को प्राप्त हुए, उन्हें मंदिरों में स्थापित किया गया और वे हमारे पूज्य हो गये। किंतु, आज लगता है, प्रभु श्रीराम को मंदिरों से हटाकर अपने घरों में स्थापित करने की ही आवश्यकता है! श्रीराम को प्रभुभाव से इतर, पितृभाव, पुत्रभाव, गुरुभाव या सख्य भाव से ही समझना होगा। जब तक प्रभुत्व हम दोनों के बीच में होगा, आत्मीयता हो ही नहीं सकती। जिस भी भाव में सहजता हो, उसी भाव से श्रीराम को सहेजें और उन्हें अपने रिश्तों में बांधें, रामराज्य में श्रीराम प्रभु रूप में नहीं बल्कि सामाजिक रूप में ही अपनों के साथ थे। अब निर्णय आपका कि प्रभु श्रीराम मंदिरों में दिखें या आपके घर में।

आज हमारे परिवारों में जो विखंडन या बिखराव है, पारम्परिक-सांस्कृतिक मूल्यों का ह्रास है, ऐसे में श्रीराम जैसे पिता, पुत्र, भाई और पड़ोसी की समाज को बहुत बड़ी आवश्यकता है। जीवन में आधुनिकता के समावेश ने हमें एकदम दिग्भ्रम्रित कर दिया है। हम अपने मूल्यों को

छोड़कर एक बनावटी अपसंस्कृति के शिकार हो रहे हैं। पिता–पुत्र के रिश्तों में हार्दिकता का घोर अभाव है। परिवार में एक–दूसरे की इच्छाओं, जज़्बातों और भावनाओं का न तो कोई कद्र है और न ही सम्मान।

एक समय था, जब राख–लीपा घर का चौका अपनत्व के गीलेपन में मोतियों जैसा चमकता था; और अब एक समय है कि चमचमाते मार्बल भी हमारे आपसी तनाव से सहमकर कांतिहीन और उदास दिखते हैं। आज की नई पीढ़ी अपने मन में बड़ों के लिए गुबार भरकर बैठी हुई है। उसके ताल्लुक उनलोगों से बढ़ रहे हैं, जो उन्हें सिर्फ मोबाइल या कंप्यूटर के स्क्रीन पर दिखते हैं। परिचय और प्रेम का यह मशीनी फंडा पूरी मानवता को हृदयहीन बना रहा है। आत्मीयता की जगह औपचारिकता ने छीन ली है और प्रेम का स्थायित्व 'लिव इन' के क्षणिक उन्माद की बलि चढ़ रहा है। मिला–जुलाकर इतना इशारा करना श्रेष्ठ होगा कि हम जिस आसुरी सभ्यता की भेंट चढ़ रहे हैं, उसमें एकमात्र श्रीराम का जीवन–संदेश ही हमारा आधार है। प्रभु श्रीराम ने जिस प्रकार माता–पिता का मान रखा, विमाता के हठ को सम्मानित किया, भाइयों की भावनाओं को हृदयंगम किया और प्रजा के कल्याण के लिए अपनी प्रिया का परित्याग किया, जीवन के उन उच्चादर्शों को आज घर–घर उतारने की आवश्यकता है।

यदि हम इस विघटनशील रूक्ष असभ्यता से उबरना चाहते हैं, अपनी परंपरा और थाती को सम्हाले रखना चाहते हैं, मानवता की रक्षा और उसकी विजय चाहते हैं तो हमें अपने घर–आँगन को सीताराममय करना होगा। हमें यह समझना होगा कि राम देवता नहीं मनुष्य थे और उन्होंने जो भी किया एक सीधा, सामान्य और पुरुषार्थी मनुष्य आसानी से कर सकता है, बशर्ते वह उन्हीं की तरह धीर–गंभीर, स्थिर और उदार हो। हमारा संकल्प ही हमें रामत्व तक पहुँचा सकता है और हम उनकी तरह अपने समाज और राष्ट्र को अपसंस्कृति के रावण से बचा सकते हैं।

□

# कौन अपना, कौन पराया

यह रंग-बिरंगी दुनिया शायद इसलिए टिकी है कि यहाँ एक-दूसरे के बीच परस्पर कोई-न-कोई रिश्ता है। इन रिश्तों को समझना और परिभाषित करना एक चुनौती भरा काम है। चाँद से धरती का रिश्ता हो अथवा फूलों से तितलियों का, इनकी तह में जाना और इन्हें रूपायित करना अत्यंत दुरूह है। मैं सोचता हूँ, इनकी तह में जाने की जरूरत भी क्या है! विधाता ने सारी सृष्टि में संतुलन बनाने के लिए ही इनके अंदर प्रेम के ये भाव भरे होंगे।

हमने पशु-पक्षियों को भी अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए लड़ते-झगड़ते, भागते-छिपते और आक्रमण करते देखा है। जैविक आहार श्रृंखला की कठोर सच्चाई भी हमारे सामने है। पर इतना होने पर भी संसार में प्रेम का प्राबल्य है, इसमें कोई संदेह नहीं।

शेर और भालू जैसे हिंस्र प्राणी भी सदैव हिंस्र नहीं रहते। उनमें भी प्रेम और दया की भावना देखी जाती है। फिर हम तो मनुष्य हैं। विधाता ने हमें विवेकसंपन्न किया है। हम अच्छे-बुरे में भेद कर सकते हैं। प्रेम और घृणा के परिणामों को अच्छी तरह समझ सकते हैं, फिर अपने आसपास हम ईर्ष्या, द्वेष और नफरत जैसी कुप्रवृत्तियों को फटकने क्यों देते हैं? हमारी वे कौन-सी विवशताएँ हैं, जो हमें प्रेम और भाईचारे का साम्राज्य स्थापित नहीं करने देती। क्या हम आपस में हेल-मेल और हँसी-खुशी का भाव रखकर आसानी से नहीं जी सकते।

आज दुनिया काफी विकसित हुई है। हमने आपसी मतभेद होने पर भी विवेक के अंकुश से उसे नियंत्रण में रखना सीखा है। किंतु हमारी इतनी कोशिश अभी नाकाफी है। आज हर घर में तनाव है, समाज में तनाव है और सरहदों पर तानातनी है। परिवार आये दिन टूटते-बिखरते हैं, समाज दंगों का दंश झेलता है और

सरहदों पर गोलियाँ दनदनाती हैं। यह सब क्या है? क्या हमारी मनुष्यता के साथ हमारी पशुता भी ऊँची-लम्बी होती जा रही है? दुनिया में आज जितनी प्राणरक्षक दवाइयों और वस्तुओं की ईजाद हुई, उतनी ही प्राण्घातक हथियारों की। कौन किसे पीछे धकेल रहा है- पशुता को मनुष्यता या फिर मनुष्यता को उसकी पशुता!

हमारी परंपरा बड़ी गौरवशालिनी है। हमारे पूर्वजों ने हमें प्राणि ामात्र के प्रति स्नेहिल और सहिष्णु बनना सिखाया है। हम 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' के संदेशवाहक हैं। हमारा जन्म ही प्रगाढ़ रिश्तेदारी के पालने को सुशोभित करने के लिए हुआ है। कृष्ण का जन्म तो देवकी की कोख से कंस के कारागार में हुआ, किंतु उनके अंदर वह कौन-सी शक्ति थी, जिसने उन्हें नंदगाव का लाड़ला और आर्यावर्त का दुलारा बना दिया। हमें अपने भीतर रिश्ते के इस वजूद को ठीक- ठीक समझना होगा। जिन्हें हम प्यार करते हैं, स्वाभाविक रूप से वे भी हमसे प्यार करते हैं। वे हमसे इसलिए प्यार करते हैं कि उनका हमसे रिश्ता है और हमारा रिश्ता इसलिए है कि हम उन्हें प्यार करते हैं। अगर हमारे अंदर प्रेमभाव है तो सब हमारे अपने हैं, कोई पराया नहीं है।

□

# रिश्वत रिश्ता दोउ का कभी न एका होय

हर रिश्ते की अपनी अहमियत होती है और रिश्ते से ही हमारा परिवार-समाज चलता है। यदि रिश्ते की बुनियाद न होती तो समाज रूपी महल कभी खड़ा ही नहीं हो पाता। किंतु, इस रिश्ते की व्याख्या अलग- अलग लोग अलग-अलग ढंग से करते हैं। बहुतों का मानना है कि खून के रिश्ते से भावनाओं का रिश्ता कहीं ज्यादा ठोस और ऊँचा होता है। अनेक मामलों में यह बात सही भी उतरती है।

हमारे सामने ऐसे अनेक उदाहरण भरे-पड़े हैं, जिनमें भाई भाई का त्यागकर किसी अन्य के गले लगता है या फिर कई लोग, स्त्री या पुरुष अपना घर- बार त्यागकर औरों को ही अपना सबकुछ मान लेते हैं। हमारे इतिहास में सुग्रीव और विभीषण ऐसे ही उदाहरण हैं, जिन्होंने अपने सगे की अनीतियों से क्षुब्ध होकर वनवासी श्रीराम का साथ दिया। बहुत से लोग ऐसे भी हैं, जो खुद के लाभ के लिए रिश्ता बनाते हैं और उचित -अनुचित का विचार किये बगैर संबंध को पक्का बनाने के मन से एक प्रकार की रिश्वत देने पर उतारु हो जाते हैं। किंतु, उन्हें यह भान नहीं होता कि जिस रिश्ते की शुरुआत ही लालच और लोभ से हुई हो, भला वह कितना टिकाऊ रह सकेगा। ऐसे रिश्तों की खास बात यह है कि लालच देने वाला समझता है

कि मैं थोड़ा-सा लालच देकर ढेर सारा दोहन कर सकूँगा और लालची समझता है कि इसी बहाने हम अलादीन के चिराग से सदा-सदा

मनोरथ पूरे करते रहेंगे। परिणामस्वरूप रिश्ते में जल्दी ही गहरी दरार आ जाती है।

यह एक सच्चाई है कि हर रिश्ते का दारोमदार पेट पर ही होता है, पर जिन रिश्तों के संबोधन में या बीच में पीठ का समावेश हो जाए, वह रिश्ता व्यक्तिगत न होकर सामाजिक हो जाता है। पेट से पेट का रिश्ता हो या पीठ से पीठ का रिश्ता, सामाजिक ढाँचे को सुदृढ़ करने में आपका निर्णय महत्त्वपूर्ण होग; क्योंकि रिश्ते के बिना समाज की अवधारणा ही बेमानी है।

रिश्ता पेट का हो या पीठ का, उसकी अपनी एक अहमियत होती है। घर–परिवार और समाज में हम एक–दूसरे से अपनी जरूरतों के आधार पर भी जुड़े होते हैं। घर में कोई रसोई संभालता है तो कोई ऊपर का काम; कोई गहने–कपड़े खरीदने में निपुण है तो कोई खेती और उपार्जन में। इसी मेल–जोल औार सहभागिता से गृहस्थी की गाड़ी चलती है। किंतु, इसका मतलब यह नहीं है कि सिर्फ इन्हीं कारणों से हमारा रिश्ता कायम है। ऊपर की इन बातों में से किसी के न रहने पर भी दो या कई लोगों के बीच अत्यंत प्रगाढ़ रिश्ता कायम रह सकता है। राम और सुग्रीव के रिश्ते को हम क्षणभर के लिए परस्पर सहयोग पर आधारित ठहरा सकते हैं पर शबरी से राम का रिश्ता केसा था कि वर्षों तक वह बुढ़िया उनकी आस में रोज बाट बुहारती रही थी।

आज जीवन में आधुनिकता के समावेश से हम रिश्तों के बीच उपयोगिता का प्रश्न खड़ा कर रहे हैं, जो कितना दुर्भाग्यपूर्ण है, यह हम सभी जानते हैं। हमारी बूढ़ी माँ अशक्त होकर न तो हमें लार कर

सकती है और न ही खाना पड़ोस सकती है तो क्या हम इस रिश्ते को तिलांजलि दें! सुना है कुछ भारतीय विदेशों में अपने माता-पिता और संबंधियों को सिर्फ इसलिए ले जाते हैं कि वहाँ नौकरों की बड़ी किल्लत है। अगर रिश्तों की अहमियत इतनी ही है तो हमें शीघ्र ही इससे तौबा कर लेना चाहिए।

लोगों के बीच पेट का रिश्ता हो, इससे किसी को कोई एतराज नहीं, क्योंकि परस्पर सहयोग और लेन-देन के बिना हम एक कदम भी नहीं चल सकते लेकिन हमारा पीठ का रिश्ता ही मजबूत होना चाहिए। जिस समाज में बच्चों के लिए स्नेह-दुलार न हो, बुजुर्गों के लिए आदर-सम्मान न हो, स्त्रियों के लिए सम्मान भाव न हो; वह समाज एकत्र रहकर भी एकांगी और एकहरा है। उसके पास न तो कोई मूल्य है और न ही कोई दृष्टि। उसे कोई भी कभी भी रौंद सकता है और पराभूत तथा पराजित कर सकता है। जो समाज रिश्तों में शर्तों को तरज़ीह देता है, उसे बिखरने, पराजित और पराधीन होने में देर नहीं लगती। हमें यह समझना चाहिए कि हमसे परिवार और समाज का वजूद है और उनसे हमारा। इसलिए रिश्तों में शर्तों को नहीं बल्कि समरसता को स्वीकार करने में ही हमारी जय है।

□

# आत्मविश्वास

लोगों की जुबान पर दिनभर में जितने शब्द चढ़ते हैं, उनमें एकाध–बार सिर चढ़कर बोलने वाला शब्द है– आत्मविश्वास। शिक्षक, वकील, न्यायाधीश, कारीगर, कलाकार और न जाने कितनों की तो यह असली ताकत और एकमात्र पूँजी भी है। चुनाव के समय जो राजनेता बिना किसी पूर्व तैयारी के दिनभर पब्लिक को भाषण की डली परोसते रहते हैं और बिना पूत आचरण के जो उपदेशक जनसाधारण को गुरुग्रंथ का सारांश सुनाते रहते हैं, उनका तो सबसे बड़ा हथियार ही है आत्मविश्वासा। आत्मविश्वास के भरोसे हम परीक्षा पास कर सकते हैं, अन्तर्वीक्षा में अव्वल ठहराये जा सकते हैं, ऐवरेस्ट को धूल- धूसरित कर सकते हैं और मंगल का अमंगल भी। सच पूछिए तो यह निहत्थों के काम आने वाला सबसे घातक हथियार है।

हमारे इस आत्मविश्वास की जननी है आत्म–निर्भरता। जो व्यक्ति या राष्ट्र जितना आत्मनिर्मर होगा, वह उतना ही आत्मविश्वासी भी होगा। जो लोग परमुखापेक्षी होते हैं, जिनमें स्वयं की सूझ–बूझ और चिंतन का अभाव होता है, उनमें आत्मविश्वास की शक्ति न के बराबर होती है। शुतुरमुर्ग खुद से ज्यादा शिकारी को देखता है, जबकि शेर की दृष्टि शिकार पर होती है।

आत्मविश्वास की शक्ति मनुष्य की असली शक्ति है। किंतु, इसके परिणाम सदा शुंभकर हो, यह जरूरी नहीं। संसार में जितने

उधम और उत्पात हुए, उसके पीछे भी इसी का हाथ रहा है। इस शक्ति की अतिशयता उग्रता और प्रचंडता का भी कारण बनती है। हिटलर और नेपोलियन ने, चंगेज और तैमूर ने जो भी भला-बुरा किया-कराया, उसके पीछे इसी का हाथ समझना चाहिए। किंतु, गाँधी और मंडेला जैसे महात्माओं ने जो सहा-कहा, तुलसी और कबीर ने जो रोशनी फैलायी, मदर टेरेसा ने ममत्व का जो चंदोवा खड़ा किया, वह सब भी इस चमत्कारी शक्ति का परिणाम था।

यदि व्यक्ति आत्मविश्वासी हो और विनम्र भी, तो समझना चाहिए कि सोने में सुगंध आ गयी हो। विनम्रता जनित विश्वास से न केवल स्वयं का कल्याण होता है बल्कि संसार के कल्याण का मार्ग भी प्रशस्त होता है। भारत में बुद्ध और तुलसी कदाचित इस तथ्य के सर्वाधिक सटीक उदाहरण हैं।

आत्मविश्वासी व्यक्ति भीड़ का हिस्सा नहीं होता, वह तो भीड़ का नेतृत्व करता है। उसके दो पग हजार-हजार पगों को चलाते हैं और उसका एक इशारा धरती और आसमान को एक करने के लिए काफी होता है। यह मनुष्य के हृदय में छिपा वह हथियार है, जिसका कोई वार कभी खाली नहीं जाता। जिसने भी इसकी साधना कर ली, इसे हथिया लिया, वही सच्चा सम्राट् और सिकंदर है।

आत्मविश्वासियों की सबसे बड़ी पहचान है, नई लीक का निर्माण।

ऐसे लोग बने–बनाये रास्ते पर नहीं चलते, वे अनुसरण नहीं वरण करते हैं और यदि अनुसरण भी करते हैं तो केवल अपनी आत्मा की पुकार का। आत्मविश्वास पाने के लिए यह जरूरी है कि अपने मार्ग का अनुकरण हो और हमारी इच्छा भी बनी रहे क्योंकि बिना इच्छा और क्रिया के प्रबल विश्वास भी पहाड़ सा स्थिर खड़ा रह जाता है।

□

# आज का अभिमन्यु

महाभारत कालीन चक्रव्यूह में सारे योद्धाओं ने मिलकर निहत्थे अभिमन्यु का वध किया···! आज का अभिमन्यु वधेगा नहीं.. वाधेगा···!! सातों को तोड़ने का भेद जानता है.., आज का अभिमन्यु···!!

स्वार्थ मनुष्य को अंधा कर देता है। स्वार्थ में हम सच्चाइयों को स्वीकार नहीं कर पाते और किसी बात, घटना या परिस्थिति की व्यारव्या अपने अनुकूल करके अपने मंतव्य को सही ठहराने पर आमदा हो जाते हैं। महाभारत में क्या हुआ, एक व्यक्ति की महत्त्वाकांक्षा ने सब गुड़ गोबर कर दिया। बड़े-बड़े महारथी और नीतिज्ञ हाथ पर हाथ धरे पछताते रहे और अनीति-अन्याय का तांडव होता रहा। भला कौन-कौन -सी ऐसी मजबूरियाँ थीं, जिसने महारथियों के हाथ खुलने नहीं दिए। बड़े-बड़े वीर अन्याय का प्रतिकार करने के बदले उसके साथ क्यों हो लिए! वह केसी प्रतिज्ञा थी और कौन-सा अस्वीकार था, जिसने भीष्म और कर्ण जैसे महायोद्धाओं को भी भटकने पर विवश किया था। शायद उस समय तंत्र के साथ लगे रहना ही मर्यादा का पालन और सदाचरण का प्रतीक था। उस जमाने का व्यक्ति अपना स्वतंत्र विचार रखने पर भी सिंहासन के प्रति बंधा हुआ और वफ़ादार था और इस हालत में निजी ख्यालों का कोई मोल-महत्त्व नहीं था।

आज परिस्थितियाँ बिलकुल अलग हैं। राजतंत्र इतिहास के पन्नों में सिमट चुका है और सर्वत्र लोकतंत्र का बोलबाला है। संसद और

सरकार में किसी का एकछत्र साम्राज्य नहीं है। आज हर एक व्यक्ति की राय और अवधारणाओं का अपना-अपना मोल-महत्त्व है। ऐसे में न्याय और नीति में काफी हद तक पारदर्शिता आयी है और यह संभावना बढ़ गई है कि किसी निहत्थे को भी उचित इंसाफ मिले।

पुराने जमाने की बात बिलकुल भिन्न थी। उस समय नीति-निर्धारण में आम आदमी की कोई सहभागिता नहीं होती थी। फलस्वरूप क्रूर और आततायी शासक दोहन और शोषण की नीतियाँ बनाकर भी स्थिर रह जाता था और सफलता-पूर्वक शासन करता था। जो शासक उदार और प्रजाहितैषी होते थे, वे जनहित में नीति-निर्धारण करते थे पर अपनी शान में गुस्ताखी उन्हें भी बिलकुल पसंद नहीं थी।

आज जमाना बदला है। संघर्ष और विरोध के साधनों के साथ-साथ उनके प्रतिमानों में भी तब्दीली आयी है। आज हम अकारण किसी को प्रताड़ित नहीं कर सकते और अगर करते हैं तो देर-सवेर इसका खामियाजा हमें भुगतना पड़ सकता है। इस बीच एक कड़वी सच्चाई यह भी है कि सारी नीतियाँ और सारे इंसाफ आज भी अमीर-उमरावों

के पक्षधर हैं; किंतु इसका कारण उन लोगों का लोभ है, जिन्हें इंसाफ करने या उसमें सहयोग करने का दायित्व सौंपा गया है। आज भी हमारे समाज में भाई-भतीजावाद चलता है, रुपयों और वस्तुओं की मार चलती है, चाँदी के जूते सुँघाकर बेहोश करने की कला चलती है; पर इन सबों के ऊपर इंसाफ का ही राज चलता है।

आज हम किसी की आवाज को दबा

नहीं सकते। उसे छल के चक्रव्यूह में फँसाकर दबोच

नहीं सकते, क्योंकि आज हमारी छोटी-बड़ी सारी गतिविधियों पर हजार-हजार आँखें लगी हुई हैं। जनतंत्र ने मीडिया को एक ऐसी स्वतंत्र शक्ति के रूप में खड़ा होने का अवसर दिया है कि वह बात-बात पर किसी की खाल खींच सकता है।

आज का युवा, चाहे वह पढ़ा-लिखा हो या अनपढ़, गँवई हो या शहरी, अपने अधिकारों के प्रति भरसक सचेत है। उसे देश-दुनिया में घट रही घटनाओं और हो रहे परिवर्तनों का पूरा-पूरा भान है। वह समाज में अपनी भूमिका और भागीदारी के प्रति कल की अपेक्षा ज्यादा साफ तरह से आश्वस्त है। संसद से सड़क तक, कहीं भी, वह अपना प्रतिनिधित्व सुनिश्चित करने के लिए सतर्क है। आज उसे अभिमन्यु की तरह किसी इजाजत की प्रतीक्षा नहीं है बल्कि हर उचित-अनुचित अवसर पर अपनी दखल को वह अपना अधिकार समझता है। आज उसे चक्रव्यूह में फँसाकर निहत्था करना और मिलकर उस पर वार करना, इतना आसान नहीं है; क्योंकि उसे भीड़ में घुसने से लेकर आकाश में उड़ने तक की कला का बखूबी अभ्यास है।

□

# बाँटन वारे को लगे, ज्यों मेहँदी के रंग

आदमी स्वभाव से ममतालु होता है। जिन चीजों को वह अपना समझता है, उसके प्रति उसके मन में एक स्वाभाविक आकर्षण होता है। अमुक-अमुक वस्तुएँ मेरी हैं, अमुक-अमुक लोग मेरे अपने हैं, ऐसा सोच लेने पर उन सबों के प्रति हमारा लगाव बढ़ जाता है। इसके विपरीत जिन चीजों को हम अपना नहीं मानते, वे चीजें चाहे कितनी भी सुंदर और मूल्यवान क्यों न हों, या तो हम उनसे विराग रखते हैं या फिर उनके प्रति तटस्थ या उदासीन रहते हैं। लोगों के बारे में भी कमोवेश यही बात ठीक है। कोई गुणी महात्मा जब तक हमारे परिचय का नहीं है या जब तक उससे हमारा कोई प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रयोजन नहीं सधता है, तब तक हम उसके गुणों का न तो मूल्यांकन करते हैं और न ही उसकी कोई चर्चा।

कुछ लोग ऐसे अवश्य होते हैं, जो इस ममत्व के बंधन से परे होते हैं या फिर अपने ममत्व का इतना विस्तार कर लेते हैं कि उसमें सारी मानवता समाहित हो जाती है। बुद्ध और तुलसी, गाँधी और टैगोर ऐसे ही ममतालु मनुष्य थे। यदि हम अपने मैं का विस्तार कर लें तो हमारी क्षुद्रता में ही वैराट्य का अवतरण हो जाता है। संसार भर के कवि-कोविद और सच्चे समाजसेवी अपने इसी एक गुण के कारण सबके अपने हो जाते हैं।

संसार में ऐसा कोई प्राणी नहीं, जो इस ममत्व की माया के परे

हो; किंतु हर कोटि के जीव में थोड़ी- न-थोड़ी मात्रा में इस ममत्व के विस्तार की क्षमता है। तभी तो वे अपनी ही प्रजाति के अन्य प्राणियों और दूसरी प्रजाति के अनेक प्राणियों के प्रति अपनत्व पूर्ण आचरण का निर्वाह करते हैं। हमारे आर्षग्रंथों और लौकिक साहित्य में ऐसे अनेक उदाहरण भरे-पड़े हैं, जिन्हें देखकर यह प्रामाणिकता के साथ कहा जा सकता है कि एक कोटि के प्राणी दूसरी कोटि के प्राणियों के प्रति भरपूर स्नेह से भरे हुए होते हैं।

जो भी हो, पर इतना तय है कि मनुष्य अन्य सभी प्राणियों की तुलना में विलक्षण और बुद्धिमान है। उसमें परिस्थितियों के अनुसार ढलने और अपने अनुकूल परिस्थिति निर्मित करने की अपार क्षमता है। इस दृष्टि से चर-अचर के प्रति निश्चित ही उसकी जवाबदेही भी बड़ी है।

जबतक हम केवल अपने बारे में सोचते हैं, अपनी ही आकांक्षाओं-इच्छाओं की पूर्ति में लगे रहते हैं तब तक औरों से हमारी स्पर्द्धा और टकराहट बनी रहती है। ऐसे में हमारी ईर्ष्या और हमारा मद हमें बेचैन किये रहता है और दूसरों के हृदय से हमारे हृदय का ठीक-ठीक मेल नहीं बैठ पाता है; किंतु ज्यों ही हम आत्मोन्नत होते हैं, अपने हृदय को रागान्वित करते हैं, त्यों ही हमारा आत्मविस्तार होने लगता है। ऐसे में सारी दुनिया, सारे प्राणी-पदार्थ में हमें अपनेपन का बोध होने लगता है और हम अपने भीतर एक निमंत्रण और मृदु आभास महसूस करने लगते हैं।

सच्चा मनुष्य वही है, जो दूसरों के सुख-दुख में काम आये। जिसकी आत्मा औरों की आर्द्र पुकार सुनकर आहत होती है, जो दूसरों की प्रसन्नता में आनंद-सागर में गोते लगाता है, जिससे औरों का दुख सहा नहीं जाता और जो सबके सुख की कामना करता है, उसे ही दुनिया अपना मानती है, आदर देती और पूजती है।

आप एक छोटी-सी बात का उदाहरण लीजिए। क्या कभी दूसरों के बच्चों की सफलता पर या उपलब्धि पर आपके हाथों ने ताली

बजायी है? अगर नहीं, तो अपने बच्चों की सफलता में आप दूसरों से केसे उम्मीद कर सकते हैं? हर दूसरे के आनंद में अपना आनंद ढूँढ़ कर देखिए, ईश्वर आनंद की पात्रता आपमें भी स्वत: भर देगा। सनद रहे कि बाँटने वाले को मेहँदी लगानी नहीं पड़ती बल्कि खुद लग जाती है।

□

# कारज धीरे होत है

विज्ञान ने मनुष्य को जितनी ऊँचाई दी, उतनी ही जल्दबाजी के दलदल में भी ढकेल दिया। आज का आदमी कुछ करे या न करे, पर रहता है जल्दबाजी में। आजकल तो चट मँगनी पट ब्याह वाली कहावत पग-पग पर चरितार्थ होती दिखती है। किसी को पान खाना हो या पिज्जा, चाय पीनी हो या चरस, उसे ये चीजें चुटकी बजाते हाजिर होनी चाहिए। लगता है, हर नये जन्म लेने वाले बच्चे के दिमाग में विधाता ने भूतही मशीन लगाकर उसे भेजा हो। जितने नये लोग, उतनी ज्यादा जल्दबाजी।

आज आप सड़कों पर देखिए कि किस तरह की धमाचौकड़ी और रेल-पेल है। पीछे से आती हुई गड़ियाँ हॉर्न बजाकर आपके बाएँ से सर्र से निकल जाएँगी। अभी आप साइड देने के लिए बाएँ होने-होने को हैं कि बाएँ से निकलने वाली गाड़ी से धक्का खाते-खाते बचे। ऐसे में मन बड़ा झल्ला जाता है। कभी तो बात तू-तू मैं-मैं पर रुक जाती है और कभी हाथापाई की नौबत आती है, किंतु सबसे बुरा तब होता है, जब लोग छोटी-सी गलती या साधारण-सी बात पर एक-दूसरे की जान लेने पर आमदा हो उठते हैं। मैं सोचता हूँ कि आदमी यह क्यों नहीं सोचता कि जान है तो जहान है। लगता है कि धैर्य, संयम और शिष्टाचार नाम के शब्द अब आदर्श शब्दकोशों के पूजनीय पृष्ठों पर ही टँके-टकाये रहेंगे, व्यावहारिक और वास्तविक

जीवन में उनका कोई मोल- महत्त्व नहीं होगा।

कहाँ गए वे दिन, जब नदी, समुद्र और पहाड़ धमार्थियों और परोपकारियों को रास्ता देते थे, जब चीटियों और चिड़ियों द्वारा धर्मवीरों को असीसा जाता था। आज तो हम अपनी सवारी एम्बुलेंस से आगे निकाल लेना चाहते हैं। हम सोचते हैं कि एम्बुलेंस में लदा आदमी भला हमारा कौन है और जो भी है, उसका मरना तो तय है; फिर हमें क्या गरज कि सुविधा के लिए पीछे पड़ जाएँ। आज बेशक गाँवों के चौपालों में चीलम का दौर नहीं है, लेकिन नशे की प्रवृति और सामाजिक विकृति हद से ज्यादा बढ़ी है। आज हमें किसी उत्सव-आयोजन, शादी-ब्याह, सुख-श्राध में शामिल होने की फुरसत नहीं है। फुरसत होगी कहाँ से? हम तो महत्त्वाकांक्षाओं के मकड़जाल में जकड़े पड़े हैं। हमने अपने संबंध और सुविधा की एक अनोखी परिभाषा गढ़ ली है। हम सूरज को खुद के इशारों पर उगाना-डुबाना चाहते हैं और चाहते हैं कि हवा भी पहले हमसे पूछ ले कि मैं चलूँ या न चलूँ।

यह एक तथ्य है कि पुराने लोगों की दुनिया आज की अपेक्षा काफी छोटी थी। लोग एक घर में रहते थे, एक बर्त्तन में खाते थे और एक खेत में खटते थे। आज शायद ही कोई ऐसा घर हो जिसका दो-एक सदस्य परदेश में न हो। आज खेती ही एक काम नहीं है, विज्ञान और प्रौद्योगिकी के विकास के साथ-साथ कार्य-क्षेत्र का भी काफी विस्तार हुआ है। आज आदमी के जिम्मे हजार काम हैं। अनेक लोग घर-गृहस्थी से लेकर कल-कारखाने चलाने में व्यस्त हैं। सड़कों पर आवाजाही बढ़ी है, मोटरों और मशीनों का जमाना है; फिर हमें यह भूलना नहीं चाहिए कि हम हैं तो सब है।

हम देखते हैं, सड़क के किनारे हजारों तख्तियाँ लगी हुई हैं और उनपर यातायात संबंधी सावधानियों के अनेक सुंदर छंद आकर्षक रंगों में उकेरे हुए हैं। ये तख्तियाँ इस बात की गवाह हैं कि हमने अबसे पहले अनेक बार यातायात के सामान्य नियमों की अनदेखी की है और

उनकी धज्जियाँ उड़ायी हैं और हम खुद को तथा दूसरों को घोर संकट में डाल चुके हैं। कितनी तकलीफदेह और नासमझी की बात है कि जिस बात में हमारी भलाई निहित है, जिस बात पर हमारा जीवन-मरण निर्भर है, हम उसी की अनदेखी कर खुद की जान जोखिम में डालते हैं। यातायात का तो बिलकुल सीधा और सरल नियम है- धीरे चलोगे, घर-द्वार ठीक पहुँचोगे।

□

# यादों के झरोखों से

खोजता हूँ एक चेहरा..., अपनी यादों के झरोखों से... जिसने कहा था..., "पढ़ाई कर ले... जिन्दगी आसान हो आएगी...!!"

आदमी स्वभाव से परिवर्तनशील प्राणी है। अक्सर हम पिछली बातों को भूलते और नई को ग्रहण करते चलते हैं। जीवन में न जाने कितने ऐसे पड़ाव आते हैं, जब लगता है कि यह जगह छूट गई या यह महफिल बिखर गई तो जीना शायद नामुमकिन हो जाए; किंतु कभी ऐसा होता नहीं। हम अपनी प्रिय-से- प्रिय वस्तु खोकर, जान से ज्यादा प्यारी जान खोकर और प्राणों से प्रिय प्राण खोकर भी स्थिर हो जाते हैं। न जाने कौन-सी वह शक्ति होती है, जो हमारे अंदर में छिपी होती है और हमें इस तरह चालित किए रहती है। कभी-कभी तो ऐसा होता है कि हम अपने खुद के बनाये प्यारे घरौंदे को भी अपने हाथ बिखेरने को उतारू हो जाते हैं।

आज जीवन-मूल्यों में जो अस्वाभाविक बिखराव आया है, पीढ़ियों के दरम्यान जो अंतराल बढ़ चला है, उसे देख-समझकर रूह काँप उठती है। आज आप किसी यतीमखाने में जाएँ, यकीनन वहाँ गरीब और निराश्रित बच्चे मिलेंगे, किंतु जरा किसी वृद्धाश्रम का रुख करके देखिए, वहाँ वही बुजुर्ग मिलेंगे, जो अच्छे-भले, खाते-पीते अथवा अमीर घरों से ताल्लुक रखते हैं। मैं सोचता हूँ कि अगर यह दुनिया ईश्वर की रचायी है तो फिर इसमें इतनी बेवसी, असमानता और उदासी क्यों छायी है।

लोग आज रिश्तों से ज्यादा पैसों की अहमियत समझते हैं। और तो और, वह बदनसीब माँ जो अपने गहने बेचकर, कोसल गँवाकर, पठरू और दूध बेचकर अपने बच्चों को पढ़ाती है, वही बच्चा जब जवान हो जाता है, किसी पद या कुर्सी पर आरुढ़ हो जाता है तो उसे माँ की बीमारी और बुलावे की फ्रिक नहीं होती। वह शहर से गाँव जाने के किराये का हिसाब लगाता है, दो-चार दिनों में होने

वाली क्षति और घूस-उत्कोच का आकलन करता है और झूठी तसल्ली के लिए माँ को एक फोन कर देता है कि फुरसत होने पर आऊँगा। मनुष्य की यह हृदयहीनता क्या मशीन के संसर्ग से उत्पन्न हुई है या फिर उसने अपनी महत्त्वाकांक्षा के लिए मशीनों की ओट ली है। मेरा मन कहता है कि ऐसी दुनिया ज्यादा चलने वाली नहीं है।

कहते हैं, खून से ज्यादा भावनाओं के रिश्ते पक्के होते हैं। सच भी है, किंतु भावनाएँ हममें रही कहाँ! अब तो उसकी जगह प्रपंच ने ले लिया है। हाँ! कुछ लोग ऐसे जरूर हैं, जो भाव में ही जीते-मरते हैं और कोई भी अभाव उन्हें डिगा नहीं पाता। किंतु, ऐसे लोग तो अब विरले हैं, जिनका नकली तरावट और बनावटी खाद से वास्ता न हो।

मैं सोचता हूँ, क्या मेरी माँ होती तो मैं भी उनसे ऐसा ही खींचा-खींचा-सा होता! न जाने क्यों और केसे वे मुझे सदैव याद आती हैं। उनके आशीष से मेरा दिन शुरू होता है और एहसास से रात गुजरती है। घर में बच्चे हैं, बड़े हैं, एक भरा-पूरा हँसता-खेलता संसार है, उन सब के साथ मिलकर मैंने एक खिलखिलाती दुनिया रची है; पर उस

अपनत्व पूर्ण बंधन में भी–एक स्वाभाविक मुक्ति और गति है। जब भी अवसर हाथ लगता है, सभा–सम्मेलनों में जाता हूँ, कविताएँ लिख–पढ़ लेता हूँ, फिल्म–नाटक देख आता हूँ, भजन–संगीत की मंडली जमा लेता हूँ, देश–विदेश घूम आता हूँ और गरीब–निराश्रित बच्चों से उनकी पढ़ाई की बातें और व्यक्स्था कर लेता हूँ। माँ ने कहा था, पढ़ाई कर लो, जिंदगी आसान हो जाएगी। मैं जानता हूँ, माँ ने ब्याहता होने के उपरांत पढ़कर अपने लिए राह बनायी थी। यह उन्हीं की बनाई राह है, जिसपर चलकर हम सभी इतने आगे आए हैं। उन्हीं की दी हुई ज्योति है, जिसे लेकर मैं भारत से श्रीलंका और श्रीलंका से मॉरीसस घूमता रहा हूँ। माँ से मेरा वजूद है और उन्हीं से मेरी पहचान। यदि लोग मुझे मेरे कारण जानते–पहचानते हैं तो उसके पीछे भी माँ का स्नेह सिक्त अदृश्य हस्त है। आज माँ नहीं हैं, किंतु स्मृतियों में वे सदैव मेरे साथ हैं। इतना सब होने पर भी पता नहीं क्यों कभी–कभी मन उदास हो जाता है और तब भी एक माँ ही हैं, जो उस नीरव तंद्रा को तोड़ने के लिए ख्यालों में मौजूद होती हैं।

□

# दीप जलता रहे

उत्सव-आयोजन के बिना जीवन अधूरा प्रतीत होता है। आदमी लाख कमा ले, लाख उन्नति कर ले, यदि हाथ खोलकर खर्च नहीं करे तो मन में सदा मलाल लगा रहता है। सनद रहे कि मैं आदमी की बात कर रहा हूँ, कौड़ीखोरों की नहीं। जो कौड़ीखोर होते हैं, उनके जीवन-मरण और आनंद-उल्लास की कसौटी क्या होती है, यह तो आप भी अच्छी तरह जानते हैं। भर-भर मुट्ठी बटोरने में आनंद अवश्य है पर यदि मुट्ठी खोलकर लुटाया न जाए तो वह आनंद मन-प्राण को आह्लादित करने की जगह उसपर भार बन जाता है। मुझे अपने पड़ोस के एक कृपण किसान की याद आ रही है। वे सज्जन थे बड़े परिश्रमी, एकदम सीधे, सच्चे और पक्के किसान। बड़ी मेहनत से कौड़ी-कौड़ी जोड़कर उन्होंने एक ट्रैक्टर मोल लिया। गाँवभर में सिर्फ उन्हीं के पास खेती की यह आधुनिक मशीन थी। इस ट्रैक्टर के कारण उनकी प्रतिष्ठा और पूछ काफी बढ़ गई। लोग उन्हें आदर देते, चाय पिलाते, यज्ञ-प्रयोजन में अपने दरवाजे अनिवार्य रूप से उनकी उपस्थिति चाहते। फिर क्या था, उनकी व्यस्तता बढ़ती ही गई। दिनभर ड्राइवर के बगल में बैठ लोगों के खेत जुतवाते और रात को लालटेन जलाकर सारा हिसाब-खाता ठीक करते। दोपहर का भोजन शायद ही उन्हें नसीब होता। समय बीतता गया और उम्र बढ़ती गई। इस बीच चने का सत्तू ही उनकी तृप्ति का साधन रहा। किंतु, जब वे मरने के करीब हुए तो

बड़े बेटे के समक्ष इच्छा जाहिर की कि मैंने वर्षों से जलेबी नहीं खाई।

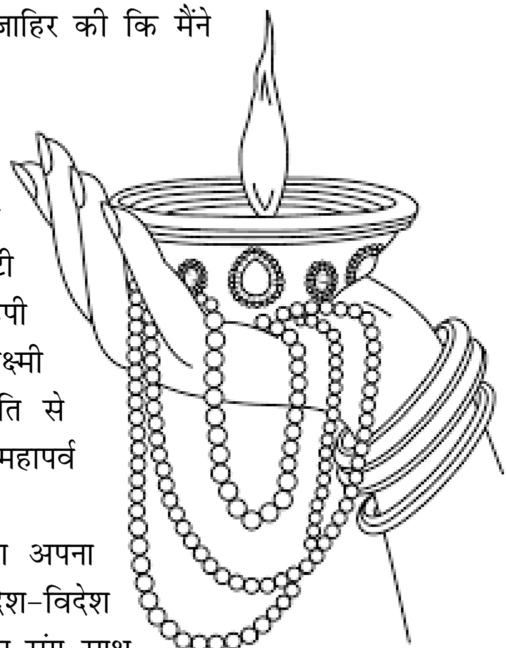

उस किसान की कंजूसी तो फिर भी सार्थक है, किंतु हमारे यहाँ तो ऐसे भी धन्ना सेठ हैं, जो मिट्टी के नन्हें दीये में भी तेल ठेपी से नापकर डालते हैं। माँ लक्ष्मी हमें ऐसे कृपणों की संगति से बचाएँ, दीपावली के इस महापर्व पर यही कामना है।

धन की टोह में लोग अपना घर-बार छोड़ते हैं, देश-विदेश भटकते हैं, अपने-परायों का संग-साथ छोड़ते-पकड़ते हैं। किंतु आश्चर्य है कि इतनी कठिनाई से अर्जित धन का सही उपयोग नहीं जानते। कृपणों की भी कोटि होती है। एक कंजूस ऐसा होता है, जो खुद खाता है पर दूसरों को खाने नहीं देता। दूसरा ऐसा है, जो खुद भी संभल कर खाता है और दूसरों को भी जरूरत से कम खाने देता है। किंतु तीसरे दर्जे का कृपण तो न खुद खाता है और न किसी को खाने देता है।

बचत और कंजूसी दोनों दो बातें हैं। बचत करने वाला आवश्यक चीजों में कटौती नहीं करता जबकि कंजूसों का ईमान-धरम कटौती ही होता है।

जब तक जीवन है, कर्म-कोलाहल बना रहेगा। होने का यही प्रमाण भी है, किंतु इस जीवन को नितांत खुद के हित में संकुचित करना महज मूर्खता है। जिस जीवन में उमंग नहीं, उल्लास नहीं, सुख-दुख में एकत्व नहीं, प्रेम और भाईचारा नहीं, परकल्याण की कामना नहीं, वह तो बुझा हुआ दीप है। दीप की सार्थकता जलते रहने में है, वह जल

रहा है इसीलिए दीप है। जितना संभव हो, यश बाँटना भी चाहिए और बटोरना भी चाहिए। मन से, वचन से और कर्म से परमारथ में रत होना ही जीवन का उद्देश्य है। श्रीमाते लक्ष्मी एवं श्री शुभ गणपति जीवन में मानसिक, वाचनिक एवं कार्मिक समृद्धि करें; जीवन में शुभत्व का वास हो; पारिवारिक–कौटुम्बिक स्नेह बना रहे और दीप–पर्व चलता रहे, दीप से दीप जलता रहे...।

□

# नैना अंतर आव तू

सबसे कठिन यात्रा¨? "खुद" को अपने "अन्दर" में उतार लेना¨!! सबसे सरल यात्रा..? "अन्दर" से खुद को "निकाल" लेना¨!!

मनुष्य स्वभाव से आलोचक होता है। किसी वस्तु या कृति को देखकर उसकी छानबीन करना, उसमें गुण–दोष निकालना उसका सहज स्वभाव है। अपनी इसी जिज्ञासा वृत्ति के कारण ही वह मनुष्य कहलाने का अधिकारी है।

ऐसे लोग विरले ही होते हैं, जो इन मामलों में तटस्थ होते हैं। जो सचमुच तटस्थ या उदासीन होते हैं, समझ लीजिए उन्हें अच्छाई–बुराई, मान–अपमान, ऊँच –नीच जैसी बातों से कोई लेना–देना नहीं है। उनकी जिंदगी उन कीड़े–मकोड़ों के समान है, जो निरुद्‌देश्य जीते–मरते हैं। किंतु, कुछ लोग ऐसे भी होते हैं, जो भीतर से पूरी तरह दोलाचल होने के बावजूद अपने अंदर की प्रतिक्रिया को बाहर एकदम प्रकट नहीं होने देते। जैसा मैं समझता हूँ, इस दूसरे प्रकार के प्राणियों से पहली कोटि का वह निरीह प्राणी कहीं अच्छा है कि कम से–कम उससे आपको कोई हानि तो नहीं उठानी पड़ रही।

यदि किसी को अच्छी और सरल बातें आनंदित नहीं करतीं, चुभने वाली और भद्‌दी बातें तीर की तरह नहीं लगतीं और तिलमिलाती नहीं, तो समझना चाहिए कि उस व्यक्ति का जमीर बिलकुल मरा हुआ

है। परिवार, समाज और देश के लिए न तो वह उपयोगी है और न ही आदरणीय। उलटे वह जहाँ भी रहेगा, जिस महफिल में जाएगा, वहाँ सड़ाँध ही उत्पन्न करेगा। हमें ऐसे लोगों से अपेक्षाकृत अधिक सतर्क और सावधान रहना चाहिए।

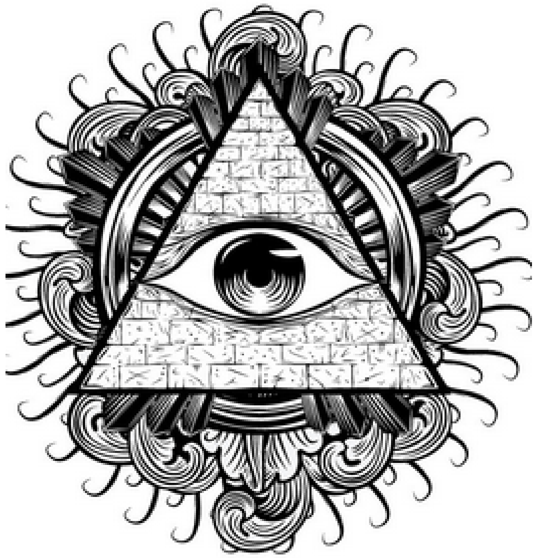

एक और बात जो सहज देखने में आती है, वह है अन्तरावलोकन की उपेक्षा या उसका अभाव। हमें दूसरों की कमियाँ, दूसरों के दोष बड़ी आसानी से नजर आ जाते हैं, पर अपने बारे में हम अत्यंत आश्वस्त और निश्चिंत रहते हैं। हमें लगता है कि हम तो दूध के धुले हैं। ऐसा भी नहीं है कि हमारा अन्तर्मन हमें हमारी त्रुटियों और दुर्बलताओं के प्रति जगाता नहीं है; पर हम प्रायः उसकी उपेक्षा कर देते हैं। हम समझते हैं, हमारे भीतर जो द्वेष और कलह का भाव चल रहा है, उससे सिर्फ हमीं वाकिफ हैं। दुर्भाग्य की बात तो यह है कि अपनी त्रुटियों को जान-समझ लेने पर भी उसके शोधन या परिष्कार करने के वजाय हम उस पर बाहरी झूठे दिखावे या अनमने आचरण का पर्दा डाल लेते हैं।

हमारे चिंतकों और मनीषियों ने अन्तर्यात्रा पर विशेष बल दिया है, किसी मनुष्य के लिए कदाचित् यह सबसे कठिन काम है। हमारी सबसे कठिन यात्रा है, खुद को अपने अंदर में उतार लेना और सबसे सरल यात्रा है अंदर से खुद को निकाल लेना।

अन्तरावलोकी होना, खासकर अपनी बुराइयों की पड़ताल करना

अत्यंत जटिल है। जिन लोगों ने अपने अंतस् में उतकर अपनी पड़ताल की, जो अंधी गुहाओं के निर्भीक यात्री बने, उन्होंने ही दुनिया को असली रोशनी दी। वाल्मीकि, बुद्ध, कबीर और तुलसी ने अपने अंतस् में झाँककर खुद को टटोला, तभी वे संसार को छंद और राग की संजीवनी पिला सके। कुएँ में कूदना आसान है पर निकलना मुश्किल; पर हृदय का मार्ग कुछ और है। इसमें प्रवेश पाना तो योगियों, तपास्वियों और साधकों के लिए ही संभव है। फिर भी इतना जरूर है कि सच्चे प्रयास से, निरहंकारिता और निर्मलता से हम कबीर जैसी दृष्टि विकसित कर सकते हैं और अपने भीतर के ब्रह्म को भाँपकर उसे सृष्टि के कल्याणार्थ प्रेरित और आन्दोलित कर सकते हैं। जब आत्म तत्त्व ही परमात्व तत्त्व है, जब सृष्टि के कण- कण में एकतत्त्वता है, जब सब साँसों की साँस एक है, जब हमारी साँसों की बागडोर हमारे भीतर बैठे नियंता के ही हाथ है तो हमारी यात्रा हमारी साँसों की तरह भीतर-बाहर अनवरत क्यों नहीं हो सकती!

□

# जिये सो खेले फाग

ज्यादातर लोग ऐसे सूरते हाल होते हैं कि जब भी उनसे कुछ पूछो या कहो अपना रोना लेकर बैठ जाते हैं। उनके लिए उमंग और उत्साह की न तो कोई जगह बनी है और न कोई अवसर बना है। बड़े खुश हुए तो नहा-धोकर सुंदर वस्त्र पहन लिया या दो-चार रोटियाँ ज्यादा बना लीं और एकाध बार खुद को आईने में देख लिया। मेरी समझ में ऐसे लोगों को खुशी और खुशहाली का ठीक-ठीक अर्थ पता नहीं होता। गमले के गुलाब को निहार-निहारकर प्रफुल्लित होना निस्संदेह जीने की आत्मनिष्ठ ही सही पर शैली है, किंतु असली मजा तो उन वन-वादियों, पहाड़ों-झरनों के निर्बंध सौंदर्य में है, जो मौन होकर भी मुखर और मस्त हैं। एक बड़ी प्रसिद्ध पंक्ति है कि झेला नहीं जो, खेल क्या उसने खेला? सच बात है कि यदि हमें खेलना है तो झेलना ही पड़ेगा। झेलने में एक अलग ही प्रकार का उमंग है।

संसार में बहुत-से लोग ऐसे हैं, जिनके पास रोटी है, कपड़े और मकान हैं, कहीं-कहीं तो इन चीजों की इफरात है, किंतु जीवन नहीं है- कोई उमंग या स्पंदन नहीं है। कहा जाता है कि जिये सो खेले फाग। प्रकृति का चक्र तो सतत है, वर्ष में एक बार फाल्गुन का आना भी तय है पर हम उसका आनंद उठाने के लिए क्या मन से तैयार हैं। जो लोग बीमार और अशक्त हैं, उनकी तो कोई बात नहीं किंतु जिन लोगों ने जान-बूझकर अपने चारों ओर चहारदीवारी खड़ी कर ली है, अपने

हृदय का कपाट बन्द कर लिया है, उन्हें फागुन की मह-मह करती बयार से क्या सरोकार? ऐसे लोगों के लिए न तो भौंरों के गुंजार का कोई मूल्य है और न ही कोयल की कूक का। सुनने के लिए कान और देखने के लिए आँखें होनी चाहिए। आज की

मारामारी और भागमभाग में इनके होते हुए भी हम अंधे-बहरे हैं। हमारा मन-प्राण तो बस बनावटी हरी रानी पर मुग्ध है। हमें रातरानी की भीनी खुशबू और महुए के मादक गंध से क्या लेना-देना। हममें राग ही नहीं है तो अनुराग और विराग कहाँ से होगा। जिसका मन-प्राण महमह होता है, मिट्टी की महिमा और आकाश की अनंतता का गुणगान वही जीवित प्राणी कर सकता है। जो मृत है, जिसका मन मरा हुआ है, उसके लिए चाँद-तारों, वर्षा और बहार का भला क्या मूल्य!

जीवन की प्रायः दो धाराएँ होती हैं। एक तट पर खड़े होकर तमाशे देखना और दूसरा उठती हुई लहरों की छाती चीरकर गहरे उतरना और मोती वाली सीपी और मूँगे ढूँढ़ लाना। बहुत कम लोग इस बात को स्वीकार कर पाते हैं कि जीवन है तो मरण है। मरना तो तय है किंतु जो बिना खनकाये मर जाए उसकी मौत तो मरने से पहले ही हो चुकी है। किसी कवि ने कितना सटीक कहा है कि जवानी जिसके-जिसके पास जमाना उसका-उसका। जवानी होती ही है खतरे मोल लेने के लिए, जवानी ही क्यों, जीवन ही खतरों का दूसरा नाम है। पहनने,

खाने, खनकाने और दिखाने की भी एक उमर होती है। अरे भाई! जब तक उमर है खा लीजिए और खनका लीजिए। खनक पायल की हो या कंगन की, महत्त्व की बात है खनकाना।

होली आती है जोगीरा गाया जाता है। अपनी श्रद्धा और सामर्थ्य के अनुसार लोग शरीक होते हैं। पर कुछ ऐसे भी हैं जो वर्ष भर पहले से किवाड़ बंद कर लेने का हिसाब लगाते रहते हैं। पर जो जीवन में जश्न का पुजारी है, वह फागुन के दिन चारि, को निरर्थक नहीं जाने देता। जमकर खेलता है और जमा-जमाकर खेलता है। जीवन और क्या है होली और दीवाली ही न! फिर दिन चारि को बटुए में बंद रखने से लाभ…।

□

# बचपनावस्था

बारिश के पानी में··· जिन बच्चों ने अपनी कश्तियाँ उतारी होंगी··· आगे चल कर उन्हीं बच्चों ने··· समन्दर में अपने जहाज भी उतारे होंगे···! बच्चो को, अपना बचपना तो जी लेने दे···बड़े होकर तो, उन्हें आपकी तरह ही जीना है···! बचपने का शहदपन, अगर जीवन में भरा हो··· बड़े का कड़वापन, उन्हें विचलित नहीं कर पाता···! एक संतुष्ट बचपन ही, किसी पूर्ण व्यक्तित्व को निर्मित कर पाता है···! निश्चय ही···

मनुष्य का जीवन भी अन्य प्राणि–पदार्थों की तरह प्रकृति के नियमों से चालित होता है। बचपन, केशोर्य, युवा और प्रौढ़–ये जो हमारी चार अवस्थाएँ होती हैं, वे प्राकृतिक नियमों का ही सहज परिण ाम हैं। हम चाहकर भी इनमें कोई परिवर्त्तन नहीं कर पाते हैं। प्रकृति के दूसरे प्राणी तो सहज हैं, वे आहार–बिहार में कुदरती कानून का उल्लंघन नहीं करते; मगर हम मनुष्य तो सदैव एक सामानांतर सरकार चलाने की कोशिश में लगे रहते हैं। कुदरत के विपरीत हमारा जो आचरण है, उसने हमें कहीं का नहीं छोड़ा है। हमारा बचपन, हमारी जवानी–सबको हमने खुद ही लील लिया है। जैसे हमने दिन–रात का अंतर मिटाने की कोशिश की, चाँद और धरती को समीप कर दिया, वैसे ही हमने बचपन और बुढ़ापे को भी मटियामेट कर एक करना चाहा। वह तो कुदरत है कि हमारी लाख कोशिशों और छेड़–छाड़

के बाद भी अपना वास्तविक स्वरूप बनाये रखती है।

बचपन हमारी वह अवस्था है, जिसमें हमें लाड़-प्यार, स्नेह-दुलार और साज-संभाल की खास जरूरत होती है। इस अवस्था में एक बार यदि तरी मिल गयी, तराश मिल गया तो आदमी किसी के रोके नहीं रुकता, वह दिशाओं को मृदंग की तरह बजाता हुआ, आकाश को मुलायम बनाता हुआ, हवा की पीठ पर थपकियाँ देता हुआ एक अदृश्य लय में बह निकलता है। वह संभलकर चलना, डूबकर तैरना और उठकर उड़ना सीख लेता है। खतरे उसके लिए खेल बन जाते हैं और दुनिया उसकी मुट्ठी में आ आती है। क्या यह सच नहीं है कि बारिश के पानी में जिन बच्चों ने अपनी कश्तियाँ उतारी होंगी, आगे चलकर उन्हीं बच्चों ने समंदर में अपने जहाज भी उतारे होंगे, हम बच्चों को अपना बचपना तो जी लेने दें, उन्हें खूब जी भरकर खेल लेने दें। एक बार वे जीवन का सच्चा स्वाद चख लें, माँ की गोद की गहराई में मन भर समा जाएँ, डूब- उतरा लें, फिर हमारी आपकी तरह समस्याओं और संघर्षो में कूदें। आखिर उन्हें आपकी तरह ही जीना है, समस्याओं और संघर्षो से रू-बरू होना है, किंतु किसी मसृण-मुलायम चोंच को इतनी जल्दी कड़वा निवाला देने की जरूरत क्या है? इतनी मुलायम चोंच तो मिठास के काबिल है, उसे तो शहद में भिगोंकर चमकीला बनाये रखे जाने की

जरूरत है, फिर यह अत्याचार क्यों?

हम बड़ों में अनेक बुरी आदतें होती हैं। हम अपनी इच्छाओं और अकांक्षाओं को हर वक्त अपने बच्चों पर लादने की कोशिश करते हैं। हमारा बच्चा यदि हमारी रुचि का आहार नहीं ले रहा है, हमारे अनुसार हमारी पसंद की चीजें नहीं ले रहा है, परीक्षाओं में हमारी अपेक्षाओं के अनुकूल अंक नहीं ला पा रहा है तो हम बड़े चिंतित और नाराज हो जाते हैं। उस वक्त हम यह भूल जाते हैं कि उसका भी एक स्वतंत्र अस्तित्व है और उसकी भी अपनी रुचि और इच्छाएँ हो सकती हैं। हम अभिभावक हैं तो निस्संदेह बच्चों के प्रति हमारा अपना कुछ दायित्व है और हमें यथासंभव निष्ठा और ईमानदारी के साथ अपनी जवाबदेहियों को निभाना भी चाहिए। किंतु, बच्चों की स्थिति, अवस्था और रुचि का ध्यान रखे बिना यदि अपनी इच्छा और अपना निर्णय हम उस पर लादते हैं तो यह सरासर अन्याय है। हमारे इस दुर्व्यवहार का बच्चों पर बुरा असर पड़ता है और वे धीरे-धीरे एक प्रकार से बीमार पड़ने लगते हैं।

बचपन जीवन की नींव है, उसका असली आधार है। मकान अगर टिकाऊ और उपयोगी बनाना हो तो आधार का मजबूत होना जरूरी होता है तो फिर, बिना सुंदर बचपन के हम सुखद सफल जीवन की कामना केसे कर सकते हैं। जीवन में यदि बचपने का शहदपन भरा हो, उमंग की मिसरी घुली हो तो बड़े का कड़वापन हमें विचलित नहीं कर पाता। यदि हमें बचपन में शीतल छाया मिल गई है, ममता का आँचल मिल गया है, कर्म और धर्म की उँगली पकड़ा गई हों तो फिर हमारी प्रगंति को पंख लगने में देर नहीं लगती।

मेरे हिसाब से व्यक्ति का संपूर्ण विकास प्रायः दो तरीके से होता है। एक कि बचपनावस्था में उसकी देखभाल का पूरा इंतजाम रहा हो और दूसरे कि उसे अपने विकास का स्वतंत्र अवसर उपलब्ध हुआ हो। पेड़ अगर छतनार चाहते हो तो बिड़वे को बढ़िया से सींचो अथवा उसे मनभर रस खींचने के लिए स्वतंत्र छोड़ दो। मनुष्य के संबंध में भी प्रायः यही बात लागू होती है। यदि बचपन में मनभर खेल-खा लिया,

हँस-गा लिया तो जीवनभर गान और मुस्कान की संभावना बरकरार रहती है। सच तो यह है कि संतुष्ट बचपन ही हमारे संपूर्ण व्यक्तित्व के निर्माण का कारक होता है। इस प्रकार यह अवस्था खाने-खेलने, लाड़-दुलार पाने, सीखने-समझने के साथ सृजन और उत्थान की अवस्था है, इसलिए इतना महत्त्वपूर्ण है।

□

# जो तोको काँटा बूबै

मनुष्य विधाता की अनमोल रचना है। प्रकृति जब प्रौढ़ और प्रशांत हुई होगी तो उसने मनुष्य को किसी महान उद्‌देश्यवश उत्पन्न किया होगा। संसार में सुंदर-सुंदर फूल हैं, बाग हैं, बगीचे हैं, कल-कल- छल-छल करती नदियाँ हैं, नयनाभिराम पर्वत- शृंखलाएं हैं, कलरव हैं और कल्लोल हैं। किंतु, मनुष्य का सुख- दुख, उसका हास-परिहास और उसकी अभिव्यक्तियाँ अनूठी हैं। विधाता ने सबके परिपोषण और सबकी रखवाली के लिए ही मनुष्य की रचना की होगी। पर, हाय! दुर्भाग्य से रक्षक ही भक्षक बन बैठा। उसने दूसरों का ही नहीं अपना भी नाश करना शुरू किया और प्रेम -भाईचारे की यह दुनिया धीरे-धीरे ईष्या-द्वेष, शोषण और खून-खच्चर के दंगल में बदलने लगी। मानव की मेधा ने उसे अंधा बनाया और दो-चार वैज्ञानिक हथकंडे हासिल कर वह सृजनहार को ही डराने- धमकाने लगा।

किंतु इतना सब होने पर भी प्रकृति का उद्देश्य नहीं बदला और जीवन के शाश्वत मूल्य नहीं बदले। विधाता क्षण-क्षण सृजनशील है। जीर्ण-जर्जर का नाश और नूतन का निर्माण उसका नित्य कर्म है। किंतु, हम इस शाश्वत नियम को भूल जाते हैं और अपने मद में पड़कर तुच्छ उपलब्धियों पर इतराने लगते हैं और रह- रहकर उसे चुनौती देने लगते हैं, जिसने हमें क्षणिक ही सही, अस्तित्ववान किया है। हमारी स्थिति पानी के बुलबुले जैसी है, हम हवा-पानी को भला क्या खेल खेलाएँगे।

फिर भी हमारा मद है कि हमें भटकाये रहता है। हम औरों को सदैव तुच्छ दिखाने, खुद से हीन समझने और अपना वर्चस्व कायम करने में लगे रहते हैं। कई लोग तो अपने जीवन का उद्देश्य ही परपीड़नम् निर्धारित कर लेते हैं।

हम मनुष्य हैं इसलिए मन से संचालित होना हमारी प्रकृति है, किंतु यह मन अच्छा भी है और बुरा भी। मन का स्वभाव दर्पण जैसा है। जैसे दर्पण कोयले को कोयला और कचनार को कचनार दिखलाता है, वैसे मन भी सच का साथी है। अगर हमने उसके सामने कुरूपता खड़ी कर दी तो वह भी कुरूप हो जाता है। कदाचित् इसीलिए हमारे महात्माओं ने निग्रह और साधना को इतना महत्त्व दिया है।

हमें मन को सदैव साफ रखने की कोशिश करनी चाहिए। जितना संभव हो अंत्य विकारों से मन को बचाना चाहिए क्योंकि ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध और हिंसा जैसे मनोविकार हमारे मन को मलिन और कमजोर बनाते हैं। बहुत से लोग अतिशय प्रतिक्रियावादी होते हैं। अगर किसी ने हमारा अपमान या अनिष्ट किया है या छोटी-मोटी हानि ही पहुँचायी है तो वे इस बात को मन में जमाकर बैठ जाते हैं और तब तक जमाये रहते हैं, जबतक कि वे प्रतिकार न कर लें।

ऐसी मनोवृत्ति पराये के लिए जितनी घातक है, उससे कहीं ज्यादा खुद के लिए हानिकारक है। ऐसे व्यक्ति का सारा जीवन वैर पालने में ही व्यतीत हो जाता है। महात्मा कबीर कहते हैं कि सोना, सज्जन साधुजन टूटै जुरै सौ बार। हमें बार-बार जोड़ने, जुड़ने और जुड़ाने का प्रयत्न करना चाहिए। चार दिन की हमारी जिंदगी ईर्ष्या, नफरत और द्व ेष में बिताने के लिए नहीं है। हमें तो इस लघु अंतराल में ही बहुत कुछ करना है। समाज के शिलालेख पर अपनी छाप अंकित करनी है। प्रेम और मोहब्बत के मीठे दरिया में गोता लगाकर तैरना है और वक्त के कागज पर खुशबू के लेख लिखने हैं।

मैंने सुना है कि दुनिया की सबसे खूबसूरत तिलती केवल छह घंटे जीवित रहती है, किंतु उन्हीं छह घंटों में संसार को इतना सुकून दे

जाती है कि कोई छह सौ वर्षों के जीवन में भी उसकी बराबरी नहीं कर पाये।

आज दुनियाभर में जो इतना बवाल मचा हुआ है, कोने-कोने में जो आग सुलग रही है, आखिर उसका कारण क्या है? हम अतिशय स्वेच्छाचारी होते जा रहे हैं। लूट-मार, डाका और अपहरण को हमने एक नया जामा पहना दिया है और धोखे से अपनी अलग दुनिया खड़ी करना चाहते हैं। किंतु इतनी ताकत, इतनी दौलत, इतना सबकुछ होने के बावजूद क्या ऐसे लोगों को मानसिक शांति मिल पाती है? क्या वे खुद की निगाहों में स्वयं को बेकसूर ठहरा पाते हैं?

मैं समझता हूँ कि प्रकृति अपने नियम से चलती है। टनभर गुड़ मिलाने से करेला शायद कुछ मीठा भी हो जाए पर करेला मिलाने से गुड़ कड़वा नहीं होता। मुझे लगता कि ईश्वर ने हमें, हम जैसों को इसलिए खुश और खुशहाल रखा है कि हमने कभी भी किसी दूसरे के लिए अहित ना ही सोचा, न चाहा। भले ही वह दूसरा शत्रुवत या मित्रवत हमारे प्रति दुर्भावना ही क्यों न रखता हो। मन की निर्मलता के लिए ईश्वर को कोटि धन्यवाद!

□

# मंत्र और यंत्र

"जल" और "मन"..., दोनों की तासीर एक ही है...! दोनों को थोड़ी भी ढील दें, बड़ी तेजी से नीचे की ओर गिरता है...! अगर "जल" को ऊपर की ओर उठाना है, उसमें 'यन्त्र' लगाना होगा... और अगर 'मन' को ऊपर उठाना है, फिर उसमें 'मन्त्र' लगाना होगा...!!

जल और मन की गति भले एक हो न हो पर उसकी चाल एक-सी होती है। ढील पाकर जल भी नीचे की ओर ढलता है और मन भी। कारण भी साफ है। दोनों का स्वभाव प्रायः एक-सा है। जल भी चंचल है और मन भी। परिवेश और परिस्थितियाँ जल के भी उठने-गिरने के कारण हैं और मन के भी। जल की मिठास और उसका खारापन बहुत हद तक मिट्टी के संसर्ग और उसके गुण-धर्म पर निर्भर करता है और मन की मिठास और कटुता प्रत्यक्ष या परोक्ष सम्पर्क पर।

जल को बाँधना या रोकना कठिन है, मन को रोकना उससे भी ज्यादा दुरूह। कदाचित् यही कारण है कि संसार में बड़े-बड़े महात्माओं, मनीषियों, चिंतकों, दार्शनिकों, तपस्वियों और संन्यासियों के मन को भी मार्ग से भटकते, विचलित होते और ढलान की ओर जाते देखा गया है। जल को बाँधने के लिए दूसरों की जरूरत होती है, पर मन तो सिर्फ स्वयं के बाँधे ही बँधता है। इसका स्वरूप तो बहुत हद तक सरसों की बंधी हुई पोटली जैसा है। इसे खोलना बहुत भारी मूर्खता है,

क्योंकि पोटली यदि एक बार खुलकर बिखर गई तो जीवन भर यत्न करने पर भी सारी सरसों समेटी नहीं जा सकती।

जल का संग्रहण और भंडारण प्रयत्नसाधित होकर भी आसान है, क्योंकि उसे प्राप्त करने के अनेक स्रोत हैं। हम चाहें तो जल कुएँ से ले सकते हैं, तालाब से या फिर गंगा-यमुना से। किंतु मन हम किससे माँगें! वह तो हमारे स्वयं के भीतर अवस्थित है और उसी के सूक्ष्म शहतीर पर हमारी बाहरी डील-डौल का यह बड़ा-सा छप्पर टिका हुआ है। किसी साधक ने किसी क्षण-विशेष में इस रहस्य का भान पाया और फिर उसे प्रकट किया-"उधो मन चंगा तो कठौती गंगा।"

महर्षि अरविंद कहा करते थे कि रज का भंडार यह शरीर तो सदा से कलुषित है, व्यक्ति शरीर से नहीं बल्कि मन से कलंकित होता है। शायद, ब्रह्मांड में सारी चीजों को पतन के लिए ज्यादा संघर्ष की जरूरत नहीं होती। उड़ान, उत्थान और उत्प्रेषण में संघर्ष है, पतन और ढलान में सुविधा। यह नियम जितना स्थूल चीजों पर लागू होता है, उतना ही सूक्ष्म अस्तित्व पर और शायद यही कारण है कि जल की तरह मन भी गिरना चाहता है।

एक बात बहुत ध्यान देने की है कि व्यक्ति हो या वस्तु, जब हम अपनी प्रकृति या मूल स्वभाव छोड़ने की कोशिश करते हैं तो हमें अतिशय संघर्ष करना पड़ता है। इस संघर्ष के दरम्यान यदि जरा-सी भी चूक या शिथिलता हुई तो हम तुरंत सरककर अपने मूल में आ

जाते हैं। भटकाव मन की मूल प्रवृत्ति है। उसका स्वभाव है। चाहे वह मन मृग का हो या मनुष्य का। मृग मरीचिका में भटकता है और हम वासनाओं में।

भटकाव में लक्ष्य कभी-कभी मिलता है। प्रायः हताशा ही हाथ लगती है। लेकिन साधना में, सधे हुए प्रयत्न में और एकाग्रता में लक्ष्य प्रायः निश्चित हो जाता है। यही कारण है कि हमारे मनीषियों ने साधना को इतना अधिक महत्त्व और मान दिया। हम चाहे गृहस्थ हो या संन्यासी, वणिक् हों या कृषक—घर या वन में अपनी साधना बनाये रख सकते हैं; क्योंकि साधना का वास्तविक स्थल घर या वन नहीं बल्कि हमारा मन है। जल के उत्थान का विधान यांत्रिक प्रक्रिया है किंतु मन का उत्थान तो बिलकुल अभ्यान्तरिक है। मन की साधना तो बस मन में चलती है। यही कारण है कि हम मंत्रोच्चार मन-ही-मन करते हैं। मंत्र तो बस मन का तंत्र है, और केवल वही है जो मन को ऊँचा उठा सकता है। सच तो यह है कि मन को केवल मन ही ऊँचा उठा सकता है। बड़े-बड़े महात्माओं की बातें जाने दीजिए, गोपियों के मन को किसने ऊँचा उठाया? उनकी किसी कठोर साधना ने, उनके आराध्य श्रीकृष्ण ने अथवा स्वयं उनके एकाग्र मन ने!

□

# बुरा जो देखन मैं चला

कुछ अच्छा देख कर··· अच्छा महसूस करना भी.., अच्छे लोगों के ही बस में है···!!

अत्यंत प्रचलित बात है कि हमें दूसरों की बुराई जल्दी दिखती है पर अपनी बिलकुल नहीं। प्रायः यह कहा–सुना जाता है कि यह संसार लोभ–मोह, ईर्ष्या, मद और दुर्भावनाओं से भरा पड़ा है। एक हद तक यह बात ठीक भी लगती है, क्योंकि संसार में जो इतना खून–खच्चर, लड़ाई–झगड़ा और केस–मुकदमा चल रहा है; उसके पीछे भला हमारी कौन–सी भावना काम कर रही है!

हमारे इतिहास के पन्ने खून–खराबे, धोखे और दगाबाजी के दस्तावेज–से दीखते हैं और हमारे अखबारों के पन्ने भी उन्हीं दस्तावेजों के नवीन संस्करण प्रतीत होते हैं। तो क्या, हमें यह मान लेना चाहिए कि इंसानियत, शराफत और अच्छाई केवल कहने के शब्द हैं। अगर ये शब्द हैं तो इनका अपना वजूद भी है। और अगर अच्छाई नहीं है तो संसार चल केसे रहा है! इंसानियत और शराफत कभी मरने की चीज नहीं है। ये चीजें तब भी थीं, अब भी हैं। इनका बचा होना ही काफी है। दुर्लभ चीजें बची ही तो रहती हैं। अगर वे बहुतायत में रहेंगी तो भला उनका महत्त्व ही क्या रह जाएगा! जीवन में जितना ज़हर है, उसकी काट के लिए उसी अनुपात में अमृत भी है। अतः हमें विषम परिस्थितियों में भी निराश नहीं होना चाहिए। यदि आप भूखे–प्यासे हैं, किसी कठिनाई या

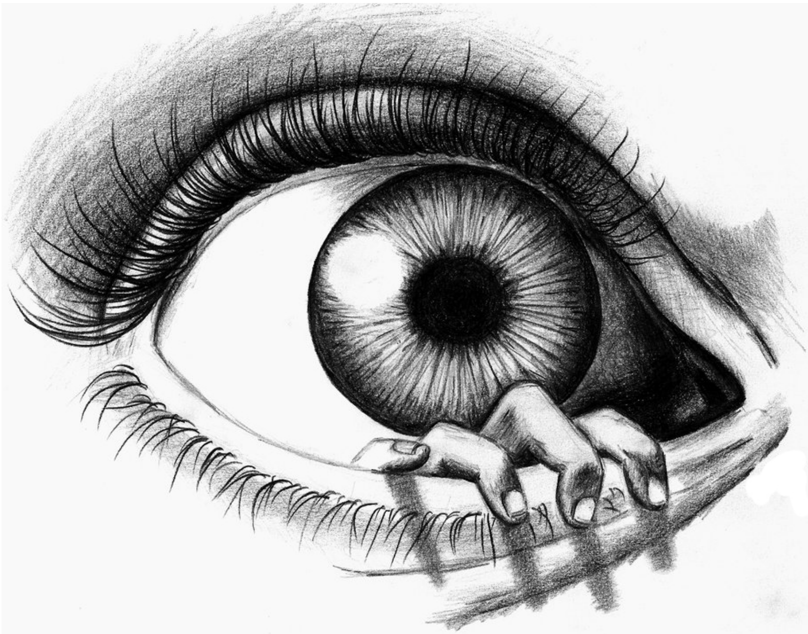

समस्या में हैं तो यकीन मानिए आपकी सहायता करने वाला, आपको उबारने वाला कोई-न-कोई फरिश्ता आपके इर्द-गिर्द ही खड़ा दिखाई देगा। लोग कहते हैं- बेईमानी, शोषण और अत्याचार बढ़ गया है, किंतु सोचकर देखिए विधाता की बनाई यह दुनिया पहले से भली हुई है। पुराने जमाने में शोषकों और अत्याचारियों का रूप बिलकुल दूसरा था। उन्होंने छद्म से खुद को ईश्वर का प्रतिनिधि मनवा लिया था। सबके सामने किसी निर्दोष को शूली पर चढ़ा दिया जाता था और कोई चूँ तक नहीं करता था। आज स्थिति वैसी नहीं है। अब हमारा सम्मान भाव जग चुका है। हम अधिकारों के प्रति सचेत हुए हैं और हमें यह समझ आयी है कि विधाता ने सबको एक समान बनाया है।

मैं समझता हूँ कि सामाजिकता और सहयोग की भावना आज भी कम नहीं है। हाँ, उसके स्वरूप में अवश्य बदलाव आया है। दुनिया में दो तरह के लोग होते हैं। एक की दृष्टि नकारात्मक होती है और दूसरे की सकरात्मक। बहुत-से लोग बुराई में रस लेकर उसे फैलाते चलते

हैं किंतु अच्छाई में रस लेने वालों की भी कुछ कमी नहीं है। अच्छे लोग तो बस अच्छा ही देखते और सुनते हैं। कुछ अच्छा देखकर अच्छा महसूस करना सब के वश की बात नहीं है। यह तो वही कर सकता है जो खुद भी अच्छा है। और गनीमत है कि आज के अवमूल्यन और गिरावट के दौर में भी ऐसे लोग बहुतायत हैं।

□

# आतम खबरि न जाना

सर…! कभी ट्रक या ऑटो के पीछे लिखी बातों पर ध्यान दें, बड़ी ही सुथरी–सी हँसी आ जाती

है..! एक बार, जब दिल्ली में ट्रांजिस्टर बम का आतंक हुआ था…, मैंने यूँ ही एक ऑटो पर "बोल–बम" के मध्य में टैक्सी लिखा देखा…, जो पढ़ने पर, "बोल टैक्सी बम" सा इंगित था…! देहाती क्षेत्र में बस के पीछे, "लटकले त गेले बेटा" सरीखे सलाहों की तो भरमार सी होती ही है…!

कभी आप ट्रक या ऑटो के पीछे लिखी बातों पर ध्यान दें, बड़ी ही सुथरी–सी हँसी आ जाती है। लगता है जैसे किसी ने मटमैले हुए जा रहे अंतर के ठाकुर जी को गाय के शुद्ध दूध में धोकर निखार दिया हो! एक बार जब देश की राजधानी दिल्ली में ट्रांजिस्टर बम का आतंक हुआ था, मैंने एक ऑटो पर "बोल बम" के मध्य टैक्सी लिखा देखा, जो पढ़ने पर 'बोल टैक्सी बम' हो जाता था। देहाती क्षेत्रों में चलने वाली बसों के पीछे "लटकले त गेले बेटा" सरीखे ढेर सारी सूक्तियाँ सलाह के तौर पर लिखी होती हैं, जिनपर हमारी निगाह तो जाती है पर हम उसे माखौल के सिवा और कुछ नहीं समझते। मैं तो कहता हूँ कि इन कटूक्तियों में जीवन का सार ही छिपा है। भले ही इनकी भाषा जैसी हो, पर इनके अंदर निहित तथ्य बिलकुल दर्पण जैसा साफ और सच है। भाषा गँवई हो या नागरी, श्रेष्ठ हो

या निकृष्ट-तथ्यावलोकन और उसकी अभिव्यक्ति में इसका काम माध्यम-मात्र का है। महज भाषा के आधार पर हम किसी विषय की उपेक्षा नहीं कर सकते। महात्मा कबीर की कौन-सी छाँटी-सजाई हुई भाषा थी! उन्होंने तो जो कहा, खाँटी ही कहा और देर-सवेर उसकी व्यापक स्वीकृति हुई।

दरअसल जनसामान्य के अनुभवों से निःसृत ये सूक्तियाँ सत्य का ही लोकस्वरूप हुआ करती हैं। हमारे ऋषियों ने अपनी सतत साधना और एकांत चिंतन से गूढ़ रहस्यों का पर्दा उठाया और जगत्-कल्याण के लिए अपनी संचित गठरी खोल दी। उनका ज्ञान सतत् साधना का परिणाम है, किंतु जनमानस में जो क्षणिक विचार कौंधते हैं, वे भी किसी दीर्घस्थायी सुप्त अनुभव -शृंखला के ही परिणाम हैं। अतः इनका भी एक अपना मूल्य और महत्त्व है।

एक और बात बहुत महत्त्वपूर्ण है कि ऑटो या बसों के पीछे अथवा पान की दुकान पर जो सारगर्भित सूक्तियाँ लिखी दीखती हैं, उनमें यदि कुछ को छोड़ दें तो शेष अत्यंत प्रभावी और झकझोरने वाली होती हैं। यदि आप सहृदय हैं, अच्छे विचारों के कन्द्रदान हैं और आप में आत्म-साक्षात्कार का साहस है तो यह तय है कि आप इन सूक्तियों को नजर अंदाज नहीं कर सकते।

हठ की बात और है। हमारे बीच ऐसे महामना महानुभावों की कमी नहीं है, जो अपना खूँटा गाड़ कर बैठे हैं। वहाँ से वे इंच भर हिलने के लिए तैयार नहीं। सारा साहित्य और सारा ज्ञान वे अपनी ही टकसाल में ढाल देना चाहते हैं। ऐसे लोग कभी भाषा का रोना लेकर बैठ जाएँगे और कभी भद्देपन की। मैं पूछता हूँ, भद्देपन की कसौटी क्या है? आप जो सोचें, करें और छिपाएँ वह भद्दा नहीं है, किंतु किसी ने आपका और अपना सच उगल दिया तो वह भद्दा है। गाँव के लोग अपनी गोष्ठियों और चौपालों में भी सहजता से वैसे शब्दों, कहावतों और वाक्यांशों का धड़ल्ले से प्रयोग करते हैं, जो सभ्य समाज में वर्जित माना जाता है। तो क्या इतने भर से हम उनके उन अनुभवों से वंचित

हो जाएँ, जिन्हें उन्होंने अपनी पीड़ाओं और अभावों में अर्जित किया है।

सच तो यह है कि हमारी भाषा हमारी संस्कृति की प्रतिनिधि है। भारत कृषि-संस्कृति और श्रमिक- समाज का देश है तो इसकी भाषा भी श्रमजनित ही होगी।

मैं तो समझता हूँ कि चाहे जिन लोगों ने इन सूक्तियों का निर्माण किया हो, वे बड़े उपकारी और आदरणीय हैं। भला कौन ऐसा होगा, जो नाम, यश और धन की इच्छा किये बिना सारे समाज के चरित्र और स्वभाव को धोकर निर्मल करने पर उतारू हो। ऑटो या बसों पर लिखी बातें भद्दी हों या कड़वी या फिर चासनी में घुलीं; हैं अधिकांश सच, इसमें संदेह नहीं। अगर हमें ये पचती नहीं हैं तो हमें अपना उपचार कराना चाहिए; अपने अंदर झाँककर अपनी आत्मा की खबर लेनी चाहिए। हम इन बेनाम समाज-सुधारकों, चिंतकों और आशुकवियों को भला क्यों रोकना चाहते हैं? क्या इसलिए कि हमारी सारी गंदगी हमारे भीतर ही जमा रहकर और सँड़ाध उत्पन्न करे? मेरा मानिए और इन कबीरों का कहा सुनिए।

□

# जीवन-राग

संगीत में एक जादुई शक्ति होती है। आदमी कितना भी परेशान क्यों न हो, कितनी भी उदासी और तन्हाई क्यों न छाई हो, एक सुंदर-सी तान या राग सुनकर वह प्रफुल्लित और आनंदित हो उठता है। कदाचित यही कारण है कि ललित कलाओं में संगीत को सर्वश्रेष्ठ स्वीकारा गया है।

हमारे देश में संगीत-साधना की एक सुदीर्घ और श्रेष्ठ परंपरा रही है। जितने राग-रागनियों और वाद्‌ययंत्रों के ईजाद हमारे यहाँ हुए, उतने संसार में अन्यत्र शायद ही कहीं हुए हों। हमारे यहाँ कृष्ण भक्त कवियों, सूफी संतों, दरबारियों और बाद में विभिन्न घरानों में संगीत की जो गहरी साधना हुई, वह सब दुनिया भर में एक अलग मिशाल है।

शास्त्रीय और लोक-संगीत दोनों का अपना अलग सौंदर्य और अलग-अलग महत्त्व है। शास्त्रीय संगीत का आधार सघन साधना और सधी हुई गेयता पर निर्भर है, किंतु लोक-संगीत तो जनमानस की ऐसी उपज है, जो क्षण में हमें भिंगोकर सरस कर जाती है। शास्त्रीय गान में गेयता एक विशिष्ट प्रकार की तारतम्यता पर निर्भर करती है और सतत् उत्थान पर पहुँचकर वह आनंद निःसृत कर पाती है; उसके भीतर सागर-सी गंभीरता और उफान है पर लोक-संगीत तो सावन के आकाश में अचानक भर आई उस बदली के समान है, जो एक ही झोंके में मन-प्राण को भिंगो डालती है। शास्त्रीय संगीत में एक

गहरा अनुशासन चलता है पर लोक-संगीत सारे बंधनों को तोड़कर बहने वाली प्राणधारा के समान है। लोक संगीत की लोकप्रियता का एक कारण उसमें निहित जनरुचि भी है। लोकसंगीत राजस्थानी हो, गुजराती, बिहारी या पंजाबी, उसमें जन-जन की आशा-आकांक्षा, सुख- दुख, हर्ष-उल्लास आदि की ऐसी सघन अभिव्यक्ति होती है कि वह अपनी सहजता में ही हमें

अपनी परंपरा और संस्कृति से जोड़ रखती है। आजकल चहुँदिश चित्रपट संगीत का जोर है। घर- घर में रेडियो और

टी.वी. पर फिल्मी संगीत ही सुना और सराहा जाता है। अब तो शादी-ब्याह, भजन-कीर्तन और उत्सव- आयोजन में भी फिल्मी गीतों के तर्ज पर गढ़े हुए गीतों को गाने का ही प्रचलन हो गया है।

हमारे बीच ऐसे भी परंपरावादी लोग मौजूद हैं, जिनकी नजरों में चित्रपट संगीत से वाहियात चीज दुनिया में दूसरी नहीं है। प्रायः लोगों का यह मानना है कि चित्रपट संगीत ने लोगों के कान बिगाड़ दिये हैं। समाज में अपसंस्कृति का जितना कचरा आज फैल रहा है, उसका प्रमुख कारण लोग इन फिल्मों को ही मानते हैं; किंतु यदि गौर से देखा जाए तो यह तथ्य छिपाये नहीं छिपेगा कि फिल्मी संगीत ने लोगों को खासकर नई पीढ़ी को सुर-ताल की सरल तालिम सुलभ किए हैं। आज किसी गली के नुक्कड़ पर या फिर टोले- टप्पर में हर दूसरा बच्चा आपको गुनगुनाता दिख जाएगा। संगीत के प्रति यह स्वाभाविक रुझान कहाँ से आया है, यह समझने और स्वीकारने की चीज है।

हर चीज का अपना सकारात्मक और नकारात्मक पक्ष होता है, सो संगीत का भी है। शास्त्रीय संगीत है तो श्रेष्ठ और अनुशासनबद्ध, किंतु न तो वह सर्वसुलभ है और न ही सबों में उसे साधने का धैर्य। शायद यही कारण है कि वह आज भी कुछ खास घरानों में ही कैद है। लोकसंगीत सर्वसुलभ होने पर भी भाषाई विविधताओं, बदलते जीवनमूल्यों, साधनहीनता और तकनीकी पिछड़ेपन के कारण नई पीढ़ी तक अपनी पहुँच बनाने में प्रायः विफल है। एक चित्रपट संगीत ही ऐसा है, जो अपनी प्रगतिशीलता में लाजवाब है। दुनिया भर की तब्दीलियों, प्रभावों और प्रयोगों को अत्यंत खुलेपन के साथ आत्मसात कर लेने के कारण चित्रपट संगीत ने हर पीढ़ी के बीच अपनी पैठ बना ली है।

जो भी हो, संगीत तो महज संगीत है, उसके बीच विभाजन-रेखा खड़ी करना तो व्यर्थ और बेमानी है। भला कौन-सा ऐसा लोक और चित्र-संगीत है, जिसमें जाने-अनजाने जरा-सी शास्त्रीयता का निर्वाह न हुआ है और कौन-सा ऐसा शास्त्रीय राग है, जिसमें लोकरुचि मिसरी के मानिंद घुली न हो!

संगीत में तो आनंद का देवता निवास करता है। जो भी इसे सुनता, गुनता और गुनगुनाता है, वह न स्वयं दुखी रह सकता है और न ही दूसरों का दुख देख सकता है। इसका यही समत्व और संचरण भाव इसे सच्चा जीवन-राग बनाता है। बस! थोड़ा-सा गुनगुना लो…, निश्चय ही दिन सँवर जाएगा!! सुनकर भी महसूस करो…, तुम्हीं गाते हुए दिखोगे!! बाकी तुम्हारी इच्छा…।

☐

# जन्मदिन के बहाने

आज मेरा जन्मदिन है। परिवार, पत्नी और बच्चों का स्नेह पा रहा हूँ। परिचितों, मित्रों, जानने वाले लोगों और इक्के-दुक्के अनजान शुभचिंतकों की भी बधाइयाँ पा चुका हूँ। सब मिलाकर अच्छा लग रहा है और सूरज के समय से उगने, पहले की ही तरह परिवेश के होने पर भी सचमुच यह दिन कुछ अलग और विशेष लग रहा है। सोचता हूँ, क्यों होता है ऐसा, क्या बार-बार दिलाए जाने वाले एहसास के कारण हमारा चित्त इतना प्रसन्न हो जाता है कि दिन विशेष लगने लगता है! क्या किसी की शुभकामना या संदेश न मिलने पर भी प्रसन्नता ऐसी ही बनी रहेगी और दिन ऐसा ही सुहाना प्रतीत होता रहेगा! क्या जो लोग अपना जन्मदिन नहीं मनाते या फिर चाहकर भी जिन्हें यह अवसर नसीब नहीं होता, वे लोग भी अपने जन्मदिन पर दिन ऐसा ही बदला-बदला और विशेष महसूस करते हैं!

पता नहीं, ऐसे फितूर के हजारों सवाल आज मेरे मन में क्यों उठ रहे हैं? आज के दिन मैं व्यथित होना नहीं चाहता, व्यथा का कोई कारण भी नहीं है, किंतु ये कुछ ऐसे सवाल हैं, जो हाथ धोकर पीछे पड़े हैं। आज का दिन...मेरा जन्मदिन!! हे ईश! कुशलता की गूँज अहर्निश और चतुर्दिश व्याप्त हो! आशीषित रहूँ...स्नेहिल बनूँ...यही शुभेच्छा!!

बड़ी पेशोपेश में हूँ। अपने जन्मदिन पर प्रभु से क्या माँगू! लम्बा

जीवन, लम्बी चादर, ऊँची पगड़ी या सोने की खड़ाऊँ? किंतु, क्या करूँगा इन्हें लेकर। मुझे याद आ रही है, उस मुरीद की बात जो पारस पत्थर पाने के लिए बड़ा बेचैन था। घर-घर जाकर पूछता था कि पारस है आपके पास। सारे लोग उसे निराश ही

करते गए। रास्ते में उसकी भेंट एक रमते हुए संन्यासी से हुई। उनसे भी भारी मन से उसने वही प्रश्न दुहराया। संन्यासी ने कहा कि हाँ पारस तो मेरे पास है, किंतु क्या तुम्हारे पास लोहा है? उसने तो अभी तक इस पर विचार ही नहीं किया था, सो अचकचा गया। तब संन्यासी ने कहा, अच्छा छोड़ो यदि लोहा नहीं है तो लकड़ी या माटी है तुम्हारे पास; आखिर तुम किस वस्तु को सोना बनाने के लिए बेचैन हो? संन्यासी की बात का सार समझकर उस व्यक्ति की आँखें खुल गयीं और आगे क्या हुआ, कहने की जरूरत नहीं।

अवसर ही ऐसा है कि पिछली बातें क्रमशः याद आ रही हैं। छोटी उम्र में कक्षाओं में जन्मदिन मनाता था, उस उम्र के साथियों का सारा स्नेह लेवनचूस या चॉकलेट में लिपटा रहता था। शिक्षक- शिक्षिकाओं के कक्षा में प्रवेश करते ही कोई चिल्ला उठता-'सर! आज इसे मत डॉटिएगा, इसका जन्मदिन है।' आज भी परिस्थितियाँ कहाँ बदली हैं, इस उम्र में भी सारे-के-सारे क्या उसी भाव से हमें नहीं देखते।

और सच कहूँ तो यह सब अच्छा लगता है। अपने होने का

एहसास, अपने चाहने वालों का स्नेह, बड़ों के आशीर्वाद, मित्रों की मीठी चुटकियाँ, सहेजने को ये सब काफी हैं।

जीवन और क्या है- खट्टे-मीठे फलों का चटख स्वाद, खिले-अधखिले फूलों का दस्ता, झरनों का मीठा पानी और लहरों की मौज। सब चलता रहे तो जीवन है और मनता रहे तो जन्मदिन है। और क्या…?

□

# उनके प्रति

यह जीवन बड़ा अनमोल है। जब हमें यह मिलता है, हम इसका महत्त्व समझने लायक नहीं रहते। 15–20 वर्षों तक माता–पिता और परिजन माली की तरह हमें सींचते हैं, मिट्टी और मौसम का ख्याल रखते हैं, पाले और ओले की मार से हमें बचाते हैं पर ज्यों ही हमें समझ आती है, हम नासमझी से जीने पर उतारू हो जाते हैं।

परमात्मा ने हमें किसी खास प्रयोजन से गढ़ा होगा, हमें रूप–आकृति देते समय उसने हर बात का विचार किया होगा। पर अपनी ताकत और जवानी में हम वह सब भूल जाते हैं।

जिन माता–पिता ने हमें उँगली धराई, जिस गुरु ने हमें ककहरा सिखाया, जिन लोगों ने हमारी इच्छाओं आकांक्षाओं को पूरा करने में एड़ी–चोटी का पसीना बहाया, उन सबों के प्रति क्या हम उसी अनुपात में जवाबदेह हैं!

हमारा मान आड़े आता है। हम अपने गर्व– गुमान में इतने खो जाते हैं कि वे सब पीछे छूट जाते हैं और हमारा अहं ही आगे–आगे चलता है।

हमें अपने जीवन को परमात्मा का प्रसाद समझना चाहिए, इसे राग, उमंग और आनंद के साथ जीना चाहिए। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि जीवन का उद्‌दश्ेय महज जीवन है। दूसरा इसका कोई

उद्देश्य स्थिर करना, उसके लिए नीति-अनीति, छल-कपट और दुराचार का सहारा लेना स्वयं को धोखा देने के अलावा भला और क्या है? आप किसी धर्मस्थल या तीर्थस्थल पर जाइए, आपको ऐसे अनेक लोग मिल जाएँगे, जो जटाजूट बढ़ाकर परमात्मा की खोज में चरस-गाँजा फूँककर अपनी हड्डी गला लेते हैं। आपको कुछ ऐसे लोग भी मिल जाएँगे जो जुआ और शराब में ही अपने जीवन को झोंक देते हैं। कुछ लोग तो ऐसे भी हैं, जो जीवन-भर नफरत और द्वेष की ज्वाला में जलते ही संसार से विदा होते हैं।

हमारे शास्त्रों का मत है कि चौरासी लाख योनियों में भटकने के बाद हमें यह तन प्राप्त हुआ है। 'बड़े भाग्य मानुस तन पावा।'यदि यह तन हमें इतने सौभाग्य से प्राप्त हुआ है तो इसे हम सद्वृत्तियों में लगाने के बदले दुष्वृत्तियों में पड़कर नाहक ही क्यों गवाँ देना चाहते हैं। संसार में नेकी और भलमनसाहत के लिए सारे मार्ग सरलता से खुले हुए हैं, फिर हम किसी चोर दरवाजे से कुकृत्यों की काली कोठरी में प्रवेश करना क्यों चाहते हैं।

और नहीं कुछ, तो आप किसी को दो मीठे शब्द कह दीजिए, चुटुकले और लतीफे सुना दीजिए, देखिए वह कितना खिलखिला जाता है। फूल और भौंरे हमें क्या देते हैं। कोयल और मोर से हमें क्या मिलता है, फिर हम क्यों उनके प्रति इतने ममतालु हैं। ऐसा हमें क्यों लगता है कि इनके न होने से यह खूबसूरत दुनिया एकांगी और उदास हो जाएगी।

जब आपके बारे में भी लोग ऐसा ही सोचें तो समझिए आपका होना सार्थक हो रहा है। जीवन थोड़ा है और करने को, बटोरने को बहुत सारा भरा पड़ा है। इस स्नेहिल पथ पर जिन लोगों ने बटोरने का अवसर दिया है, आशीषित किया है, उनके प्रति अनुगृहीत हूँ, अवलम्बित हूँ। आपके आशीष, स्नेह और शुभकामनाओं ने संवेदनाओं को नए सिरे ही परिभाषित कर दिया है। ईश्वर ने भी अनुमोदित

उम्र में से एक वर्ष घटाकर जता दिया कि वत्स! "कुछ और कर चलो"!! आपकी भावनाओं ने मुझ जीवट को जिजीविषा से भरा है, ईश्वर हर सकारात्मक शुभेच्छु को प्राण-ऊर्जा से आप्लावित करे, यही माँगा है मैंने, आपके लिए!! भावनाओं सहित!

□

# पूजा के पल

कहते हैं कि पूजा-प्रार्थना हमें संस्कारित करती है, हमारा विचलन दूर हो जाता और हमारे अंदर एकाग्रता तथा स्थायित्व के भावों की उत्पत्ति होती है। किंतु, क्या ऐसी पूजा से, जिसमें पूजा के समय भी हमारा मन विचलन से भरा होता है? बहुतों को हमने मंदिर-मस्जिद करते देखा है, पूजा और चढ़ावा के लिए आपा-धापी करते देखा है। क्या हम अपने इन प्रयासों से सचमुच ईश्वर के करीब हो पाते हैं, या प्रकृति की सर्वशक्तिमान सत्ता से स्वयं को थोड़ी देर के लिए भी जोड़ पाते हैं?

हमारे बीच ऐसे अंधविश्वासी और उन्मादी लोगों की कमी नहीं है, जो धर्म की आड़ में तरह-तरह के बखेड़े करते हैं। वे समाज को तोड़-गला कर बड़े तुष्ट और प्रसन्न होते हैं। किंतु, ऐसे लोगों का अपराध तो फिर भी क्षम्य है, असल अपराधी तो वे लोग हैं, जो जान-बूझकर धर्म और संप्रदाय का टंटा खड़ा करते हैं और अपने सियासी फायदों के लिए जनता के दिलों के सौ टुकड़े करते हैं। भला कल्लन मियाँ और रामदरश ओझा को इन टंटों से क्या लेना-देना! एक सुबह उठकर कपड़े सीलने की मशीन खटखटाता है और दूसरा पोथी-पथरा लेकर घर-घर तीज-त्योहार की तिथियाँ उवाचता है। आम आदमी की सोच यदि ऊपर जाती भी है तो रोटी की गोलाई उसे अपने में समेट लेती है।

दुनिया में इतना सारा जो प्रपंच चल रहा है, तीर-तलवार चल रही है, झगड़े-फसाद चल रहे हैं, उन सबों के पीछे वे स्वार्थी और मकसदी

लोग हैं, जो दूसरों के हाथ शिकार खेलने में माहिर हैं।

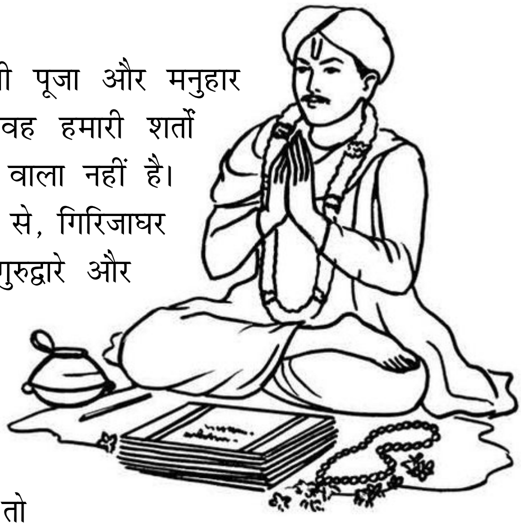

ईश्वर ने हमें अपनी पूजा और मनुहार के लिए नहीं बनाया, वह हमारी शर्तों और प्रलोभनों पर रीझने वाला नहीं है। मंदिर में प्रसाद चढ़ा देने से, गिरिजाघर में उजाला फैलाने से, गुरुद्वारे और मस्जिदों में मत्था टेकने और सजदे करने से हमारे हृदय में उजाला नहीं भर जाता। यदि हमारा अंतर कलुषित है तो हमारी पूजा- उपासना या यों कहें कि इनके नाम पर किया गया प्रपंच कदापि फलदायी नहीं होगा। कितने सयाने हैं हम कि जिसने हमें बनाया, जिसने हमारे अंदर गति भरी, जिसने हमारे मन-प्राणों को भावपूर्ण किया, हम उसी से छल करते हैं और समझते हैं कि वह हमारे दिखावटीपन को ही सच्चा भाव मान लेगा। अज्ञानता की भी हद होती है। हम अपने पास वाले, पड़ोस वाले या किसी अन्य को ठगने की कोशिश करें तो और बात है; किंतु स्वयं को ठगना, स्वयं के नियंता को ठगना भला किस प्रकार संभव है।

मैं पूजा-उत्सव का विरोधी नहीं हूँ। इनका हमारे जीवन में अपना एक अलग महत्त्व है। अगर हमने सच्चे हृदय से परमात्मा को याद किया है तो उसकी परिणति अवश्य ही कल्याण में होगी, किंतु हमारा हृदय कितना सच्चा है, इसकी परख तो पहले हो जाए।

कर्मशील व्यक्ति हाथ पर हाथ धरे बैठा नहीं रहता, उसका ईश्वर पत्थरों में नहीं विराजता। पूजा और उपासना के लिए वह पोथी पलटकर दिन नहीं उचारता। उसके लिए तो दीन-दुखियों में, बुजुर्गों और बच्चों में, असहाय और निराश्रितों में ही सच्चा परमात्मा निवास करता है। वह

सोचता है, कुछ करना है तो कर लो···!! मंदिर भी दूर···, मस्जिद भी दूर··· चलो एक बच्चे को तो ठण्ड से बचा लो···!! हे हनुमत्···!! जब चल पड़े हो···, रुकना मत। इसी रूप में तुम्हारी जरूरत भी है..। लोग सताने से बाज ही नहीं आ रहे···!! पता नहीं उनके लिए पूजा का सही अर्थ क्या है!!

□

# वसंत के आने पर

अखबारी आँखों से…!! हास्य कवि सम्मेलन के उद्घाटन के अवसर पर…! सही पहचाना हजूर… राहत इन्दौरी जी और प्रदीप चौबे जी भी आगत कवियों में प्रमुख थे…। हास्य कवियों में, एक नया नाम…विजेता जी …आपने निश्चय ही एक छाप छोड़ी है, श्रोताओं के मानस पर…!! फेसबुकिया मित्र, विनीता जी से भी पहली मुलाकात यहीं हुई…। आनंद आया…!! सोचता हूँ, यह आनंद भी अजीब चीज है, इसके बारे में जितना सोचो, यह उतना ही दूर होता जाएगा, जितना न सोचो, इसे उतना ही अपने करीब पाओगे! है न अजीब बात कि जो इसे जितना ज्यादा ढूँढ़ता है, वह इसे उतना ही कम पाता है। सुना है, इसी की खोज में भटकते-भटकते, देश-दुनिया में खून-खच्चर मचाते सिकन्दर महान भारत आया था, किंतु हाय रे उसका दुर्भाग्य कि परमानंद की इस दिव्य भूमि की माटी हथोरते हुए भी उसके हिस्से में राख ही आयी। इसी की खोज में सम्राट् अशोक ने कलिंग के किले को हिलाया और मोहम्मद जलालुद्दीन ने चितौड़ को चिता-भूमि में तब्दील करने की कोशिश की, पेशोला के पानी को लाल किया पर क्या हाथ लगा और क्या साथ गया! मालूम नहीं पर आज महात्मा बुद्ध होते तो ऐसे अंगुलिमालों की भीतरी पीड़ा को ठीक-ठीक समझते और इन्हें महाकरुणा का दिव्य प्रसाद चखाकर मदमुक्त करते।

आज हमारे महान् वैज्ञानिकों ने हमारी सारी मुरादें पूरी कर दीं।

हमारे लिए क्या नहीं किया इन लोगों ने, अखाद्य को खाद्य बनाया, अश्रव्य को श्रव्य, अगोचर को गोचर, अदृश्य को दृश्य, अलक्ष्य को लक्ष्य, असंभव को संभव। आराम से पकाने के लिए गैस स्टोव बनाया और आराम से पकने के लिए विद्युत शवदाह मशीन। हमारे गुर्दे और फेफड़े को बदलकर हमें दीर्घ जीवन का अभय दान देने की कोशिश की, किंतु हमारी आत्मा और अंतर को बनाना और बदलना अभी विज्ञान के बूते के बाहर है। और जब तक आत्मा लक्षित नहीं हो जाती, उसका स्वरूप स्पष्ट नहीं हो जाता, तब तक आनंद विशुद्ध आत्मिक वस्तु ही बना रहेगा।

हमारे संस्कृताचार्यों ने इस आनंद या खुशी की खोज में पहले ही बहुत सिर धुन लिया है। तरह-तरह की व्याख्याएँ प्रस्तुत की गई हैं, किंतु अंततः यही तथ्य छनकर आया कि आनंद सिर्फ और सिर्फ हमारे

भीतर की वस्तु है, बाहर तो महज उसे उद्बुद करने वाले कारण मात्र मौजूद हैं। कवि-गोष्ठियों को ही लीजिए। आपको तरह-तरह के कवि ही नहीं भाँति-भाँति के श्रोता और सहृदय भी दिख पड़ेंगे। कुछ तो ऐसे रसज्ञ भी मिल जाएँगे जो हुल्लड़बाजी को ही कार्यक्रम की सफलता के प्राण समझते हैं।

सच बात तो यह है कि मंच पर खड़े होकर कविता कहने में जितना आनंद नहीं है, उससे कहीं ज्यादा दर्शक-दीर्घा के किसी कोने में चिपककर लुत्फ उठाने में है। आप कोने में बैठकर कवि के मन को पढ़िए, दर्शकों की प्रतिक्रियाएँ और उनकी चुहलबाजियाँ सुनिए और समझिए कि कविता के बहाने किस-किस तरह की करतूतें चल रही हैं। यह सच है कि मंच से भी अनेक बार सुंदर और शाश्वत कविताएँ मुखरित होती हैं, किंतु आजकल ऐसी जगहों पर उन लोगों का जमावड़ा ही अधिक है, जो बेताले, बेसुरे और बे सिर-पैर के हैं। क्षणिक हास्य और विनोद काव्य का एक पक्ष हो सकता है, आज की भागदौड़ भरी तनावग्रस्त जिंदगी में इसका अपना अलग महत्त्व भी है, किंतु कविता तो अपने वास्तविक स्वरूप में एक अमर राग और शाश्वत संदेश ही है।

इस मामले में कहीं-न-कहीं मैं सौभाग्यशाली हूँ कि मुझे प्रायः शालीन मंच और सुंदर दीर्घा मिलता रहा है। इस दिन भी बड़ा आनंद आया। छककर पिया और खुलकर जिया जैसा माहौल बना था। वसंत नहीं था पर माहौल बसंती था। ईश्वर से यही कामना है कि वसंत बना रहे और जीवन में जो चार दिन हैं, वे फागुन के ही हों।

□

# किसमें कितना कौन है

न तो वैसी भाषा है और न ही वैसा ज्ञान! आज देखी हुई फिल्म 'हाई वे' की समीक्षा करने की तो मैं सोच भी नहीं सकता। सच कहूँ तो फिल्में समीक्षात्मक हो ही नहीं सकती। वस्तुतः ऐसी फिल्में जीवन के घटना-क्रम का वृत्रांत भर होती हैं। 'हाई-वे' फिल्म जैसे भी शुरू हुई हो, पर उसकी गति··, धीरे-धीरे अपने 'हाई-वे' को छोड़कर मन के कच्चे-पक्के भावों से टकराती हुई-सी एक अल्हड़ चाल में चालक की मस्ती और उसकी मौज में ही तीव्र-मंद होती चलती है।

आदमी का जीवन भी अनेक मायने में एक 'हाई-वे' ही तो है, जहाँ रफ्तार है, जोखिम है, नोक- झोंक, अल्हड़पन और तुकबंदियाँ हैं। एक ओर हवा से होड़ लगाने का लवणीय स्वाद है तो दूसरी ओर पलथे खाते रहने का कटु अनुभव और बीच में ब्रेक डाउन का खतरा भी। कौन जाने जीवन के इस सफर में किस क्रॉसिंग पर कौन-सा नया गुल खिलने वाला है।

'हाई-वे' को हमने बनाया है और हमें परमात्मा ने। हमारा सृजन हमारी अपनी सोच और सुविधा के हिसाब से आकार ग्रहण करता है और हमें परमात्मा ने अपनी सोच और कदाचित सबकी सुविधा के अनुरूप गढ़ा है। हमने मोटर और वाहन यह सोचकर नहीं बनाये कि वे आपस में लड़-भिड़ जाएँ, सड़कों और पुलों का निर्माण इसलिए नहीं किया कि वे हमारे लिए खतरे और चुनौतियाँ पैदा करें। उलटे

हमारी सोच तो ऐसी रही है कि ऐसी परिस्थितियों के उत्पन्न होने पर हम उनसे आसानी से उबर सकें। पावर ब्रेक, रिमोर्ट कंट्रोल, इंडीकेटर्स, ट्रैफिक रुल्स और सिग्नल्स और न जाने क्या-क्या; सबके सब इसलिए बनाए गए कि कोई अनहोनी न हो। सोचने की बात है कि प्रतिरक्षण के ये सारे उपाय हमने जिसकी अनुकृति में खड़े किये हैं, वह मूल सृजनहार किस परम कोटि का अनुसंधानकर्ता और प्रतिरक्षक होगा। तो फिर, जो इतनी अनहोनी होती है, प्रतिदिन हजारों दुर्घटनाएँ होती हैं, इतने सारे जीवन-दीप बुझ जाते हैं; क्या सचमुच उसमें परमात्मा का हाथ है; क्या दीप जलाने वाला और फूँक मारकर बुझाने वाला सचमुच एक है।

मेरा मन कहता है कि ईश्वर तो अद्भुत सहृदय, ममतालु निर्माता, पोषक और प्रतिरक्षक है, भला वह स्वयं के सृजन को मटियामेट केसे करेगा? उसने तो अथक परिश्रम और लगनशीलता से हमें साकार किया है, हममें रूप-रंग और संवेदना भरी है, फिर भला वह अपनी ही कृति को केसे नेस्तोनाबूद करेगा! वह तो सर्जक और संपोषक है, उसने तो हमारी आत्मा में अमर राग भरा है, भला इतने अनुराग से कसे हुए तारों को वह झनझनाकर क्यों तोड़ेगा! वह तो अमर राग का अनुरागी

और शाश्वत पथ का पथिक है। वह तो गति है, मौज है, मस्ती है और मधुर अनुभूति है। ब्रेक और बाधा, कौरुप्य और कोलाहल से उसका कोई लेना-देना नहीं। वह तो सौभाग्य है, सुयोग है, हास, उल्लास और आनंद है, रोदन और विलाप उसके नहीं बल्कि हमारे खुद की करतूतों के कारण है।

जीवन के इस 'हाई-वे' पर जो रोग-शोक, रुदन और प्रलाप हैं, जो दुर्भाग्य और दुर्योग हैं, इन सबों के मूल में हमारा अपना अहंकार और हमारी अपनी दुर्नीतियाँ हैं। यदि हम लोभ, मोह, मत्सर और प्रमाद से ऊपर उठ जाएँ तो 'हाई-वे' पर हवाखोरी है, उत्सव है, आनंद है, अनुराग है और है एक चिर शाश्वत गति···!

□

# द्वार खड़ा मैं तेरे

सुबह से ही खड़ा हूँ। न तो यह भौतिक दरवाजा खुल रहा है और न ही आपकी मानसिक खिड़की ही खुलने का नाम ले रही! आखिर, कहीं भी जगह मिलेगी या नहीं 'हमें ? याद रहे भौतिक या मानसिक रूप में जगह के लिए हम मोहताज नहीं ...बस आपकी भलमनसाहत का इंतजार है।

कभी-कभी जीवन में ऐसे क्षण आते हैं, परीक्षा की घड़ी ऐसी खड़ी हो जाती है कि मन टूटने लगता है। आदमी एकदम द्वंद्व में पड़ जाता है और लगने लगता है कि सारी साधना-उपासना, सारे लगाव-स्नेह बिलकुल बेमानी हैं। उदासी और उपेक्षा की इस घड़ी को झेलना बड़ा मुश्किल होता है। लगता है कि यह जीवन हमें निरर्थक और निरुद्देश्य जीने के लिए मिला है, जो श्वास-प्रश्वास और रुदन से आरंभ होकर निश्वास और शैथिल्य पर विराम की महज एक शुष्क यांत्रिक प्रक्रिया मात्र है।

आदमी का मान उसे अपनों से दूर करता है। हमारी ऊपर की पीढ़ी हमसे हजार अपेक्षाएँ रखती है और दो-एक के किसी कारण ावश पूरा न होने पर अपना भौतिक और मानसिक द्वार जोर से बंदकर हमें उल्टे पाँव लौटने के लिए विवश करती है। क्षणभर में ऐसा लगने लगता है कि उनके हृदय का सारा रस सूख गया है या कहीं जो कोई सोता बचा-खुचा हुआ है, उसकी धारा किसी और दिशा की चाह में

भीतर–भीतर भटक रही है। पूर्व का स्नेह, लाड़–दुलार, वायदे और भरोसे सब भ्रम से प्रतीत होने लगते हैं और एक शुष्क नीरवता कोहरे की भाँति जीवन की हरियाली पर छाने लगती है। समस्या सिर्फ पूर्व पीढ़ी की हो तो झुका, गिरा और गिड़गिड़ाया जा सकता है, पर नई पीढ़ी। नई पीढ़ी भी तो अनेकानेक अपेक्षाओं और कामनाओं के साथ द्वार सजाकर आकुलता भरी दृष्टि लिए प्रतीक्षारत है; अगर आपसे थोड़ी चूक हुई, थोड़ा–सा उन्नीस–बीस हुआ तो फिर आपकी खैर नहीं। आप फिर उसी नीरव एकांत के आगोश में धकेल दिए जाएँगे। आदमी आखिर जाए तो जाए कहाँ। क्या करे और केसे जीए कि यह सेतुसंबंध बना रहे।

प्राय: हर व्यक्ति की यह विडंबना है कि उसे जीवन–समुद्र के दो पाटों के बीच कोई न–कोई मार्ग निर्मित करना पड़ता है और दोनों कगारों की अपेक्षा– आकांक्षा के अनुरूप ढालुआ बनना पड़ता है। किंतु इस ढलान के लिए जो चोट सहनी पड़ती है और मूल्य चुकाने पड़ते हैं, उससे कगार परिचित होकर भी अपरिचित बना रहता है। क्या हम मान और मर्दन की नीति त्यागकर उपेक्षा का दंश दिये बिना सेतु का सरल उपयोग नहीं कर सकते! हम यह क्यों भूल जाते हैं कि हममें से हर कोई कभी–न–कभी किसी–न–किसी मोड़ पर सेतु की भूमिका में अवश्य होता है और क्या तब उसे इस पीड़ा का एहसास नहीं होता।

माँ पहले पुत्री होती है, बाद में माता, उसी प्रकार पिता भी पहले पुत्र होता है, फिर पिता; फिर रिश्तों में इतनी असहजता और इतना मान क्यों! रिश्तों में सेतु की जरूरत भी क्या है। नदी और समुद्र के, झरने और पहाड़ के, पक्षी और आकाश के और धरती तथा हरियाली के रिश्ते में मान और समझौते की भला गुंजाइश ही कहाँ है! पीढ़ियों के बीच न तो कोई पट है और न कपाट, फिर खुलने और हटने का झंझट ही कहाँ है! जब द्वार खड़े होकर प्रतीक्षा करनी पड़े तो समझना चाहिए कि वह प्रेम नहीं बल्कि उसके आवरण में लिपटा हुआ समझौता है।सुबह से ही खड़ा हूँ। न तो यह भौतिक दरवाजा खुल रहा है और

न ही आपकी मानसिक खिड़की ही खुलने का नाम ले रही! आखिर, कहीं भी जगह मिलेगी या नहीं 'हमें ? याद रहे भौतिक या मानसिक रूप में जगह के लिए हम मोहताज नहीं ...बस आपकी भलमनसाहत का इंतजार है।

कभी-कभी जीवन में ऐसे क्षण आते हैं, परीक्षा की घड़ी ऐसी खड़ी हो जाती है कि मन टूटने लगता है। आदमी एकदम द्वंद्व में पड़ जाता है और लगने लगता है कि सारी साधना-उपासना, सारे लगाव-स्नेह बिलकुल बेमानी हैं। उदासी और उपेक्षा की इस घड़ी को झेलना बड़ा मुश्किल होता है। लगता है कि यह जीवन हमें निरर्थक और निरुद्देश्य जीने के लिए मिला है, जो श्वास-प्रश्वास और रुदन से आरंभ होकर निश्वास और शैथिल्य पर विराम की महज एक शुष्क यांत्रिक प्रक्रिया मात्र है।

आदमी का मान उसे अपनों से दूर करता है। हमारी ऊपर की पीढ़ी हमसे हजार अपेक्षाएँ रखती है और दो-एक के किसी कारण ावश पूरा न होने पर अपना भौतिक और मानसिक द्वार जोर से बंदकर हमें उल्टे पाँव लौटने के लिए विवश करती है। क्षणभर में ऐसा लगने लगता है कि उनके हृदय का सारा रस सूख गया है या कहीं जो कोई सोता बचा-खुचा हुआ है, उसकी धारा किसी और दिशा की चाह में भीतर-भीतर भटक रही है। पूर्व का स्नेह, लाड़-दुलार, वायदे और भरोसे सब भ्रम से प्रतीत होने लगते हैं और एक शुष्क नीरवता कोहरे की भाँति जीवन की हरियाली पर छाने लगती है। समस्या सिर्फ पूर्व पीढ़ी की हो तो झुका, गिरा और गिड़गिड़ाया जा सकता है, पर नई पीढ़ी। नई पीढ़ी भी तो अनेकानेक अपेक्षाओं और कामनाओं के साथ द्वार सजाकर आकुलता भरी दृष्टि लिए प्रतीक्षारत है; अगर आपसे थोड़ी चूक हुई, थोड़ा-सा उन्नीस-बीस हुआ तो फिर आपकी खैर नहीं। आप फिर उसी नीरव एकांत के आगोश में धकेल दिए जाएँगे। आदमी आखिर जाए तो जाए कहाँ। क्या करे और केसे जीए कि यह सेतुसंबंध बना रहे।

प्राय: हर व्यक्ति की यह विडंबना है कि उसे जीवन–समुद्र के दो पाटों के बीच कोई न–कोई मार्ग निर्मित करना पड़ता है और दोनों कगारों की अपेक्षा– आकांक्षा के अनुरूप ढालुआ बनना पड़ता है। किंतु इस ढलान के लिए जो चोट सहनी पड़ती है और मूल्य चुकाने पड़ते हैं, उससे कगार परिचित होकर भी अपरिचित बना रहता है। क्या हम मान और मर्दन की नीति त्यागकर उपेक्षा का दंश दिये बिना सेतु का सरल उपयोग नहीं कर सकते! हम यह क्यों भूल जाते हैं कि हममें से हर कोई कभी–न–कभी किसी–न–किसी मोड़ पर सेतु की भूमिका में अवश्य होता है और क्या तब उसे इस पीड़ा का एहसास नहीं होता।

माँ पहले पुत्री होती है, बाद में माता, उसी प्रकार पिता भी पहले पुत्र होता है, फिर पिता; फिर रिश्तों में इतनी असहजता और इतना मान क्यों! रिश्तों में सेतु की जरूरत भी क्या है। नदी और समुद्र के, झरने और पहाड़ के, पक्षी और आकाश के और धरती तथा हरियाली के रिश्ते में मान और समझौते की भला गुंजाइश ही कहाँ है! पीढ़ियों के बीच न तो कोई पट है और न कपाट, फिर खुलने और हटने का झंझट ही कहाँ है! जब द्वार खड़े होकर प्रतीक्षा करनी पड़े तो समझना चाहिए कि वह प्रेम नहीं बल्कि उसके आवरण में लिपटा हुआ समझौता है।

☐

# माटी तेरे रूप अनेक

हमारा जीवन एक अर्थ में जितना सरल है, दूसरे अर्थ में उतना ही जटिल। विविधता मिट्टी का गुण-धर्म है और इसका होना अत्यंत स्वाभाविक है। पर यह विविधता रूप-रंग और आकार-प्रकार तक ही सीमित होनी चाहिए। एक हद तक खाने-पहनने और बोलने-चलने में भी विविधता स्वीकार्य है पर जब किसी अभाव, वंचना, शोषण और दलन के कारण विविधता आती है तो वह प्रकृति के नियमों के सरासर उल्लंघन का ही द्योतक है और उसे किसी भी स्तर पर स्वीकार नहीं किया जाना चाहिए।

प्रकृति स्वयं ही विविध और विराट् है। वह खुद को अनेक रूप-रंग और आकार-प्रकार में अभिव्यक्त करती है तो फिर उसकी सर्वश्रेष्ठ संतान मानव का भी भिन्न-भिन्न रूपों और आकारों में होना स्वाभाविक है, किंतु प्रकृति ने अवसर, उपयोग और सुविधा के स्तर पर मानव ही क्यों प्राणिमात्र में भी कोई अंतर नहीं किया है। प्रकृति किसी को गरीब-अमीर, शिक्षित-अशिक्षित और शासक-शासित बनाकर पैदा नहीं करती; यह भेद-भाव तो हमारी चालाकियों के कारण उत्पन्न हुआ है।

हमारे आस-पास जीवन अपने नंगेपन के साथ बिखरा पड़ा है। प्रकृति ने हर एक को नंगा पैदा किया है और सबके लिए पर्याप्त पोषण और रक्षण के साधन उपलब्ध कराया है, उसकी नजर में लंगोटी

और अंगवस्त्र का मान और मूल्य समान है। अंतर प्रकृति की नजर में नहीं, हमारी दृष्टि में है। हमारा जीवन प्रकृति का वरदान है और उसे सौंदर्यमंडित करना हमारी अभिलाषा। पर जब हम अपने आस-पास देखते हैं तो रोंगटे खड़े हो जाते हैं। हमारे बीच आज ऐसे हजारों- हजार लोग हैं, बच्चे और स्त्रियाँ हैं, विकलांग और बेबस हैं, जिन्हें हमारी सच्ची सहानुभूति और सहयोग की जरूरत है।

कोई भी सभ्य समाज भूख, बीमारी, अशिक्षा, अनाचार और अस्पृश्यता को एक बड़ी चुनौती मानता है, ये समस्याएँ न केवल हमारी सभ्यता बल्कि संस्कृति के लिए भी अपशब्द और गाली हैं। अतः इन्हें

सहन करना न केवल स्वयं का बल्कि कुदरत द्वारा प्रदत शक्तियों का अपमान है।

अपने जीवन के ही आस-पास चलने वाले इन जीवन की पसलियों पर अगर मांस की कुछ परतें चढ़ायी जा सकें तो लगता नहीं कि कहीं कोई पूर्णता आई, पर प्रयास का अपना अलग महत्त्व है और निरंतर के प्रयास से निस्संदेह इन परिस्थितियों को बदला जा सकता है। किसी गहरी खाई में नियमित मुट्ठी भर माटी फेंकने से न केवल खाई भरती है बल्कि पहाड़ भी खड़ा होता है। अतः हमारा प्रयास किसी भी रूप में हो सकता है- भौतिक, मानसिक या आध्यात्मिक।

परिवर्तन प्रकृति का शाश्वत नियम है और यह परिवेश की तरह ही समाज पर और सब पर लागू होता है इसलिए आज जिसके सिर मुकुट है, कल उसके हाथ लंगोटी भी हो सकती है; यह बात हमें अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए। यही वक्त है, अपनी पीढ़ी को जीवंत और जवाबदेह बनाने का, अगर हम आज सोच पाए तो बेहतर अन्यथा अपनी पीढ़ी भी कहीं इन फोटो की दुनिया में ही खो जाएगाी क्योंकि हमारा आज ही आने वाले कल का इतिहास है।

□

# यात्रा

जीवन यात्रा का ही दूसरा नाम है या फिर जीवन का अन्य नाम ही यात्रा है। जैसे यात्रा का कोई ओर-छोर नहीं वैसे ही जीवन का भी कोई ओर-छोर नहीं। कहने को हमारी यात्रा एक मंजिल से दूसरी पर पहुँचकर समाप्त होती है पर क्या यह वास्तव में कभी समाप्त भी होती है! प्राय: शरीर-त्याग या मरण को जीवन का अंत मान लिया जाता है पर क्या सचमुच मरण के बाद जीवन का अंत हो जाता है। अगर आत्मा के पुन: देहधारण की बात को छोड़ भी दें तो भी क्या जीवन अनंत नहीं है। क्या किसी एक धारा या अनेक धाराओं के सूख भर जाने से नदी का बने रहना संभव नहीं है। मिस्र और मेसोपोटामिया की सभ्यता, हड़प्पा और मुअनजोदड़ो की सभ्यता के मिट जाने भर से क्या सभ्यता का अंत हो गया। आकाश में उमड़ने वाले कारे-कजरारे बादल अगर बरस गए तो बादलों के उमड़ने की संभावना समाप्त नहीं हो गई।

पथिक जब मंजिल पा लेता है तो लगता है कि यात्रा समाप्त हो गई, किंतु वहीं तुरंत एक दूसरी यात्रा का बीजारोपण भी हो जाता है। हमारा जीवन भी ऐसा ही है, उससे हमारी मुक्ति संभव नहीं। हमारे शास्त्रों में ऐसे अनेक विधान हैं, जिनके अनुपालन से हम जीवन-मुक्त हो सकते हैं या फिर दूसरे शब्दों में मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं।

शास्त्रकारों और साधकों ने कहा है इसलिए बिना जाने-परखे इसे खारिज कर देना ठीक नहीं पर क्या मोक्ष ही परमानंद का एक मात्र

कारगार उपाय है! क्या हमारा जीवन सरस और सुंदर बना नहीं रह सकता।

यह ठीक है कि यात्रा है तो असुविधाएँ और परेशनियाँ हैं पर रस, अनुभूति और आनंद भी कहाँ कम हैं! पुस्तक, अखबारों और पत्रिकाओं में पढ़कर और रेडियो-टी.वी. में देख-सुनकर हम दुनिया और इसके इतर की चीजों के बारे में जान-समझ सकते हैं पर जो सुख आँखोदेखी और आपबीती में है, वह भला अन्यत्र कहाँ! कश्मीर की वादियों और अमरीका की गगनचुंबी इमारतों के अवलोकन में आनंद भले ही अलग-अलग स्तर का हो, अनुभूति भले ही भिन्न हो, पर रस के धरातल पर दोनों काफी करीब हैं। जीवन भी ऐसा ही है। दुख है, विछोह है, पीड़ा, अभाव और कष्ट है पर उमंग, उल्लास, मस्ती और आनंद भी कम नहीं है। एक बात और है कि जीने के मजा से तो हम बखूबी वाकिफ़ हैं पर मोक्ष का परमानंद तो हमारे लिए गूँगे की गुड़ ही है। जीवन है तो खतरे और चुनौतियाँ हैं, संघर्ष और श्रम है। पर इसका न होना क्या सचमुच परमानंद है, यह बात सोचने की है।

हमारी चेष्टा तो जीने की होनी चाहिए, हम मोक्ष और मरण की बात क्यों करें। जीवन के रहते हम न तो मोक्ष की अनुभूति कर सकते हैं और न ही मरण का सत्य पा सकते; फिर जिस सत्य से हमारा पूर्ण परिचय नहीं, उसे पाने के लिए हम आपाधापी क्यों करें। हमारा परिचय तो जीवन से है, तो फिर इसी का साथ निभाना हमारा धर्म क्यों न बने। हे महाकाल! यह जानते हुए भी कि हम सब क्षण-प्रतिपल तुम्हारे काल- गाल में समाहित हुए जा रहे, हम रुकना नहीं चाहते, परंतु तुम्हारा भस्म- शृंगार तो अधूरा है हमारे बिना। काल-गाल भी चलायमान, हमारा भस्म भी शृंगारिक पर न तुम रुके और न हम! तुम्हारा कोड़ा सपासप चलता जा रहा है और हमारे कदम बढ़ते जा रहे हैं। तुम भस्म-शृंगार सजाते रहो और हम जीते और जीते रहें। बस, और क्या! यात्रा तुम्हारी हो या हमारी क्या यह कभी खत्म होगी!

□

# साँच की आँच

मानव के जीवन में सुख-दुख, सत्य-असत्य, अपने-पराये की अनुभूतियों के साथ आदर्श और यथार्थ भी अत्यंत गहराई से जुड़ा हुआ है। आदमी का व्यक्तित्व प्रायः दो स्तरों पर बँटा होता है, जो वह करना चाहता है मोटे तौर पर वही उसका आदर्श कहलाता है पर जो वह करता है, वह उसका ययार्य है। मनुष्य है तो मन है और मन है तो अनेक दुर्बलताएँ भी हैं। मतलब कि हर समय व्यक्ति का मन आदर्शों द्वारा चालित नहीं हो सकता। प्रायः यह देखा जाता है कि आदमी जब समाज के बीच होता है तो वह अपने अंदर खड़े किये गए आदर्शों के अनुरूप आचरण करता है, किंतु ज्योही वह एकांत पाता है, उसका स्वयं का खड़ा किया आदर्श चरमराने लगता है और वह उस समय जो आचरण करता है, वास्तव में वही उसका स्वभाव है और वही उसके व्यक्तित्व की निजता है।

भारतीय चिंतनधारा में व्यक्ति के आदर्श की प्रतिष्ठा है, ऐसा होना चाहिए या ऐसा किया जाना चाहिए का बोलबाला है। मातृ-पितृ भक्ति, भ्रातृत्व और सामाजिक सदाचार को लेकर हमारे मनीषियों और ग्रंथकारों ने बड़ें ऊँचे आदर्श खड़े किये हैं। ये आदर्श इतने ऊँचे हैं कि वहाँ तक पहुँच पाना असंभव नहीं तो दुष्कर अवश्य है। दूसरी ओर पाश्चात्य सभ्यता अपना आदर्श अपने यथार्थ के दायरे में ही गढ़ने का अभ्यस्त रही है। वहाँ व्यक्ति के स्वातंत्र्य का ज्यादा महत्त्व है, यहाँ समाज

की मान्यताओं का। मूल्य किसका ज्यादा है या किसका होना चाहिए, यह एक अलग मुद्दा है पर इतना सच है कि वैज्ञानिक विकास और वैश्वीकरण के इस दौर में दुनिया एक-दूसरे के काफी करीब हुई है, परिणामस्वरूप यथार्थ की सत्ता और महत्ता का दायरा भी बड़ा हुआ है।

इन बातों के साथ-साथ पता नहीं, मैं कबसे रिश्तों को समझने का प्रयास कर रहा हूँ। कहना मुश्किल है, आखिर किन समबन्धों को हम रिश्ते का नाम दें। हर संबंध रिश्ता तो हो नहीं सकता, न ही हर रिश्ते को हम संबंध की श्रेणी में ला खड़ा कर सकते हैं। सम्बन्ध को अगर विच्छेदित करें तो सम् और बंध की प्राप्ति होती है। मतलब बराबरी के लोगों का आपस में बंधना ही सम्बन्ध को परिभाषित करता है। यह बराबरी मानसिक, आर्थिक, सामाजिक या आध्यात्मिक स्तर की हो सकती है। हाँ, यह दूसरी बात है कि हमने संबंध को अपने सुविधानुसार अपने इच्छित रूप में ढाल भी लिया है और उसको समझकर एक दूसरे को समझाने की कवायद भी करते फिरते हैं, रही बात रिश्ते की तो न ही समझ पा रहा और नही उचित विच्छेद कर पा रहा हूँ। मनन और सघन चिंतन की कवायद करने के बाद यही समझ पा रहा हूँ कि जो जीवन को रिसे, जिससे जीवन रिसे, जिससे स्वार्थ रहित भावनाओं का सृजन हो, कहीं उसे ही तो रिश्ता नहीं कहते? जिस भावना से जीवन और प्रेम में जिजीविषा का स्राव होता हो,खुद का त्याग कर दूसरे की निर्मिति हो, अपनी जिजीविषा छोड़ एक प्राण को लाने में खुद की आहुति हो! कहीं यह तो नहीं!

माँ को समझना चाहा, लगा रिश्ता परिभाषित हुआ जाता है, जिसने अपनी प्राण-ऊर्जा से एक नये प्राण को संजीवनी दी! ईश्वर द्वारा प्रदत्त बीज से खुद को दाँव पर रख जीवन का निर्माण किया। प्रतिपल…? हम, आप जहाँ विचरित हैं। दूसरी ओर आपके दिए प्राण-बीज को एक जीवन रूप में निर्मित करना, जहाँ उस निर्मात्री को अपना बहुत कुछ छोड़कर और अनेक मनोभावों को तिलांजलि देकर, जीवन-निर्माण के लिए संकल्पित होना होता है। एक तरफ माँ रूप में समष्टि परिभाषित है,

वहीं दूसरी ओर पत्नी रूप व्यष्टि को परिभाषित किये सा दीख पड़ता है।

अन्य रिश्तों की विवेचना तो सावन में हुए अंधे की तरह है क्योंकि वर्तमान स्थिति के अनुसार दोनों पक्षों की गरमाहट और ठंडापन पर निर्भर हो उठता है। इन दो रिश्तों के अलावे अन्य रिश्तों में इड़ा और पिंगला वाले त्याग का नितांत अभाव दीख पड़ता है। निश्चित रूप से अपवाद है और भविष्य में भी अवपादों की संभावना और कामना है। चने की तरह खुद को गलाकर अपने ही रक्त और मज्जा से नये जीव का पोषण करना, शायद ईश्वर भी एक कदम पीछे हो उठे, पर माँ, माँ की कोख ने सहर्ष धारण किया है और पत्नी ने आपके जीव को पोषित करने का संकल्प लिया है। इन रिश्तों में आप कभी सौदा नहीं महसूसते, बस आत्मिक होने की जरूरत और कवायद की कूक-सी उठ पड़ती है। मैं यह नहीं कहता कि बाकी रिश्ते बेमानी है वरन तुलनात्मक तौर पर माँ और पत्नी के रिश्ते को कुछ-न-कुछ पारलौकिक भावनाओं से भर सकते हैं। जिस जीवन में माँ के रिश्ते की गरमाहट हो, पत्नी का साहचर्य हो, पता नहीं क्यों मुझे लगता है कि पूर्णता अपने आप को ही दृष्टिगोचर और परिभाषित करती जान पड़ती है। एक बात और कि मेरी लेखनी की सारी कवायद विशुद्ध रूप से मेरे अपने मानस और जीवन के पलों को सुख देने के लिए यानी 'स्वान्तः सुखाय' ही होती है। अतः मतैक्य होना आवश्यक नहीं, शायद मतान्तर अनिवार्य है। वैसे भी मैं जानता हूँ कि जिस समाज में हम जी रहे हैं, उसका यथार्थ कुछ और आदर्श कुछ और है। जबतब इन दोनों के मध्य सामंजस्य नहीं होगा, तबतक सत्य की स्वीकृति संदिग्ध ही बनी रहेगी।

□

# नमामि शम्भो

भारतीय जनमानस में महादेव शिव अत्यंत प्राचीन काल से देवों के देव रूप में प्रतिष्ठित हैं। भारतीय संस्कृति के आधार-स्तंभ त्रिदेव (ब्रह्मा, विष्णु, महेश) में महामना महेश अपनी चित्र-विचित्र जीवन-शैली, सघन भावुकता, प्रगाढ़ दयार्द्रता और अतिशय क्रोध संपन्न अद्वितीय चरित्र के कारण सदैव चर्चा और आकर्षण का केन्द्र रहे हैं। हमारे शास्त्रों में ब्रह्मा का उल्लेख सर्जक के रूप में, विष्णु का पालक तथा शिव का संहारक के रूप में हुआ है; शास्त्रों में भगवान् विष्णु के दशावतार का वर्णन है और इस कारण उनकी लोकप्रसिद्धि भी काफी है पर अवतारी चरित्र न होने पर भी भगवान शिव उनसे कम प्रसिद्ध नहीं हैं। यदि ठीक से देखा जाए तो भगवान् विष्णु से अधिक उनके अवतारी स्वरूपों यथा श्रीराम और कृष्ण की ही प्रसिद्धि अधिक है पर भगवान् शिव अपने मूल स्वरूप में ही संसार में पूजित और प्रशंसित हैं। यहाँ एक और बात ध्यान देने की है कि विष्णु के किसी भी अवतार का प्रभुत्व संपूर्ण भारत में एक-सा नहीं है, किंतु शिव उत्तर से दक्षिण तक समान रूप से स्वीकृत हैं।

भारतीय जनमानस में भगवान् शिव की अखंड स्वीकृति के अनेक कारण हैं पर इसका सबसे बड़ा कारण है, उनके स्वभाव में वर्जना का अभाव। वे सर्वसुलभ और समरस देव हैं, देव, दानव, यक्ष, किन्नर, मानव, अमीर, गरीब, उदार, कृपण, गृहस्थ, संन्यासी, स्त्री, पुरुष, बाल,

वृद्ध, स्पृश्य, अस्पृश्य, धर्मात्मा, अधर्मी, विरागी, कामी कोई भी उन्हें सहजता से पा सकता है। उन्हें प्रसन्न करने के लिए न लम्बी तपस्या की जरूरत है, न आकर्षक विग्रह की, न महँगे प्रसाधन और मेवे की। बस पत्थर के एक अनगढ़ टुकड़े पर शीतल जल उड़ेल दीजिए, पास की उगी झाड़ियों से एक मुट्ठी भाँग-धतूरे सररकर सामने डाल दीजिए और निश्छल हृदय से हाथ जोड़कर सम्मुख खड़े हो जाइए, और समझिए हो गई आपकी पूजा, प्रसन्न हुए शिव और प्राप्त हो गया आपका काम्य। ऐसे औघड़ दानी को, जो चलते-चलते आपको मालामाल कर दे, भला कौन नहीं अपने सिर-आँखों पर रखना चाहेगा।

महादेव शिव संन्यस्त योगी हैं, वे मुखर कम और मौन अधिक हैं, उनकी मुखरता में भी एक मौन लय मौजूद है। जैसे कोई गायक, नर्तक, चित्रकार, मूर्तिकार या शिल्पकार सदैव एक अव्यक्त आंतरिक लय में संचरण करता है और भावावेश के क्षणों में एकाएक मुखर हो उठता है। शायद यही कारण है कि इन सबों के शिव आराध्य देव हैं। महादेव शिव संवेदना और भावुकता के सर्वोच्च भूमि पर प्रतिष्ठित हैं, वे केलाश सदृश्य उत्तुंग और मानसरोवर जैसे प्रफुल्ल हैं। वे राग के नहीं अनुराग के देव हैं और वे विरागी नहीं वैरागी हैं। वे चाँद सदृश शीतल, गंगा जैसे निर्मल और शेषनाग जैसे अमर्ष्य के देव हैं। वे बंधन और वर्जना के नहीं बल्कि विस्तार और स्वीकार के देवता हैं।

प्राय: यह कहा जाता है कि महादेव का मन घर-गृहस्थी के झमेले में नहीं लगता इसीलिए वे एकांत वास पसंद करते हैं, उनकी सवारी वृषभ भी उनकी उन्मुक्तता, मनमानी और बेफ्रिकी का ही द्योतक है। किसी हद तक यह बात ठीक भी है, किंतु उनकी जटा से नि: सृत होती हुई देवी गंगा हमारी इस अवधारणा को मटियामेट करती हैं। वास्तव में शिव अत्यंत भावुक और सौंदर्यप्रिय देव हैं, उनके अभाव में भाव, संहार में सृजन, क्रोध में करुणा और विनाश में संतुलन है। वे समस्त सृष्टि के संरक्षक हैं, उनके लिए प्राणी-पदार्थ का मोल एक है। वे जड़-चेतन, शीत-उष्ण और अमृत -विष को एक कर संतुलित

और समान करने वाले आद्य अनुसंधानक और चिकित्सक हैं। विरोधों का समाहार और सामंजस्य उनका स्वभाव है और वे सच्चे अर्थों में समत्व के देव हैं।

हे हरिहर! इस रूद्र प्रदत जीवन में आपके शिवत्व का वास हो। चरम पर उत्सर्जित पर चरम का अभाव। यह तुम्हारे ही अक्ष का परिलक्षित बिंब है शम्भो। माँ गौरा से भाव किया, सृष्टि को समभाव सिखाया और आजीवन अभाव को परिभाषित करते रहे। जीवन की हर रात्रि शिव-गौरा के भाव से भावित हो। तुम्हारा शिवत्व आंशिक हम शैवों में भी उतरे।

□

# मौन की शक्ति

मौन से तात्पर्य प्रायः चुप, खामोश या निः शब्द लिया जाता है। किंतु, क्या ये शब्द आपस में परस्पर पर्याय हैं अथवा इनमें कोई अंतर है। पता नहीं यह प्रश्न मेरी सहज जिज्ञासा में कब और केसे आया पर मैं महसूस करता हूँ कि सामान्य व्यवहार में एक जैसे अर्थ में प्रचलित होने पर भी इन शब्दों में पर्याप्त अंतर है। मैंने कहीं पढ़ा था कि सभी शब्द सभी अर्थों के वाचक होते हैं और कोई शब्द किसी शब्द का पर्याय नहीं होता है। कोई भी शब्द कोई भी अर्थ दे सकता है, यह कथन जरा उलझाने वाला है या संभव है कि मेरी उतनी पहुँच न हो कि मैं हर शब्द में हर अर्थ ढूँढ़ सकूँ पर इतना तो अवश्य है कि भाषा व्यवहार में प्रचलित होने पर भी पर्यायवाची शब्द आपस में काफी भिन्न होते हैं। जैसे लहर, वीचि, ऊर्मि, तरंग आदि शब्द पर्यायवाची होने पर भी अपनी मूल प्रकृति और अर्थवत्ता में भिन्न हैं, वैसे ही मौन, चुप, खामोश आदि में भी अर्थ और प्रकृति की दृष्टि से काफी अंतर है।

मौन मनुष्य की वह आंतरिक स्थिति है, जिसमें उसकी अभिव्यक्ति के सारे बाह्य प्रयत्न सिमटकर अंतर्गामी हो जाते हैं। मौन हमारा वह आंतरिक प्रयत्न है, जिसमें हम मन को एकाग्र करना चाहते हैं। हमारा मन अत्यंत चंचल है, यह हर वक्त गतिशील और भ्रमणशील रहता है। जब हम चुप, खामोश या निः शब्द रहते हैं तब भी इसके भ्रमण और

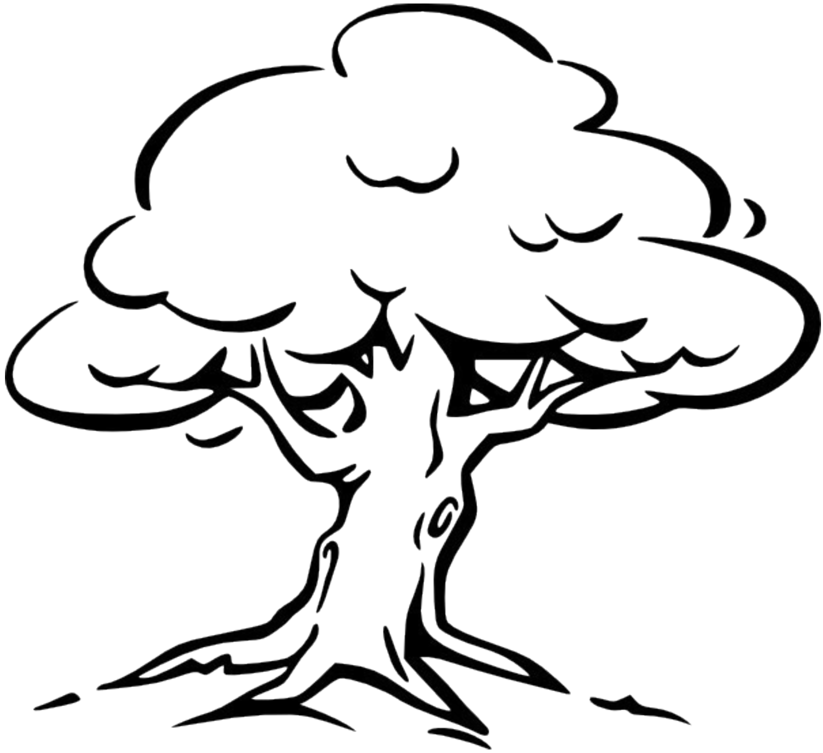

गति में कोई अंतर नहीं पड़ता। कहना तो चाहिए कि चुप या खामोश की स्थिति में इसकी गति अपेक्षाकृत अधिक हो जाती है और यह ज्यादा भ्रमणमील हो उठता है, किंतु मौन की स्थिति बिलकुल दूसरी है। मौन की स्थिति में हमारा मन अत्यंत स्थिर हो उठता है, उसकी गति रुक जाती है और वह केन्द्रस्थ हो उठता है।

मौन मानव-मन की वह महादशा है, जिसमें वह स्वयं के भीतर अवस्थित महासत्य को पहचानने में समर्थ होता है। इस चित्तदशा में हमारी समस्त ज्ञानेन्द्रियाँ अपार शक्ति से युक्त हो जाती हैं और वे सकल ब्रह्माण्ड या चराचर में व्याप्त शुभदायिनी ऊर्जा को अवशोषित कर मन को प्रदान करती हैं। फलतः हमारा मन महान् और दिव्य हो उठता है और इस स्थिति में ज्ञान या अवबोध अत्यंत सहज हो उठता है।

हमारे मुनियों, महर्षियों और आद्य अनुसंधान कर्त्ताओं ने अपनी इसी शक्ति से संसार के गूढ़ रहस्यों को समझा और फिर उसे प्रत्यक्षतः जनसामान्य के लिए प्रकट किया।

हम महात्मा बुद्ध के अवबोध या ज्ञानार्जन की कहानी से उपर्युक्त बातों का मिलान करें तो ये बातें हमें अत्यंत संगत और सार्थक प्रतीत होंगी। हम महाभारत के उस प्रसंग से परिचित हैं, जिसमें माता गांधारी अपनी आँखों से जब वर्षों से पड़ी पट्टी हटाती हैं तो दुर्योधन का शरीर उनकी आँखों की तेज से व्रज हो उठता है। यदा-कदा हमें गाँव-देहातों में आज भी कोई मौनी बाबा धूमते-विचरते मिल जाते हैं, जो बोलते नहीं, लोगों के प्रश्नों का जवाब स्लेट पर लिखकर देते हैं। ऐसे लोग यकीनन जब बोलते होंगे तो उनका कहा हुआ घटित हो जाता होगा। हम देखते हैं कि ऊपरी दर्जे के विद्यार्थियों को अकसर मौन-पाठ की शिक्षा दी जाती है और कक्षा में अध्यापन के दौरान भी मौन श्रवण का एक अपना महत्त्व होता है। उसी प्रकार बहुत से लोग गीता, रामायण आदि धर्मग्रंथों का मौन पाठ करते हैं, यह सब इसलिए कि मौन से मन एकाग्र और अंतःस्थ होता है और उसी एक विषय पर केंद्रित होकर उसे अच्छी तरह संगृहीत कर पाता है।

संसार के महानतम वैज्ञानिक, कलाकार, चित्रकार और साहित्यकार महानतम मौन के क्षणों में ही महानतम सृजन कर सके हैं और उनके मौन के कारण ही प्रकृति के गर्भ में छिपे सत्य की शिव और सुंदर अभिव्यक्ति हुई है।

मौन हमारी वाणी का संयम है। संयम नियम के लिए आवश्यक होता है और यह सारा संसार नियम से चलता है। परमात्मा या नियति के नियम से सारी प्रकृति चलती है और शासन के नियम से समाज चलता है। इसमें कोई भी छोटा या बड़ा व्यतिक्रम होता है तो अव्यवस्था और आपदा आती है; समाज बिखरने लगता है और सृष्टि लय होने लगती है।

हमारा यह चंचल मन श्रद्धा और बुद्धि के योग से संतुलित होता

है और विवेक से नियंत्रित। किंतु, मौन तो उसका असली संयम है। जैसे महाभारत के मध्य विचलित अर्जुन के संयम–सारथी श्रीकृष्ण हैं, वैसे मन का संयम–सारथी मौन। जो व्यक्ति इस मौन की शक्ति को पहचान कर मन को स्थिर कर लेता है, वही मुनि और महात्मा है और परमात्मा का सच्चा दूत या फरिश्ता।

□

# ऐसी करनी कर चलो

यदि देखा जाए तो मनुष्य को काम के अनुपात में बहुत अल्पकाल का जीवन मिला है। संसार में न जाने ज्ञान-विज्ञान, कला और साहित्य के कितने सारे क्षेत्र खुले हैं; समाज-सेवा और देश-सेवा के हजारों अवसर भरे-पड़े हैं। अब इस हिसाब से यदि हमें सौ वर्षों का समय भी मिल जाए तो बहुत थोड़ा ही है। पर दुर्भाग्य से हमारे बीच कुछ लोग ऐसे हैं, जो अपना सारा जीवन निरर्थक कृत्यों में ही गँवा देते हैं। उनके अंदर नकारात्मक विचारों और क्रियाकलापों की ऐसी लत पनप जाती है कि वे आस-पास और परिवेश को दुखी और प्रताड़ित करने के साथ स्वयं को भी बेचैन और परेशान किए रहते हैं।

आज देश और दुनिया में जो हो रहा है, वह सचमुच बड़े शर्म, अफसोस और घृणा की बात है। कहीं होटलों में विदेशी पर्यटकों को बंधक बनाया जाता है, कहीं विमान-अपहरण किया जाता है और कहीं बच्चों तथा स्त्रियों को पीड़ित और प्रताड़ित किया जाता है। आज 'सर्वेभवन्तु सुखिनः' का यह देश शोषण, उत्पीड़न, भ्रष्टाचार और जमाखोरी जैसी बुराइयों के दलदल में धँसता जा रहा है। बुद्ध, महावीर और गाँधी की यह भूमि कुछ विदेशी षड्यंत्र और कुछ स्वदेशी लोभ और लालच के चंगुल में फँसकर अपनी मूल शक्ति और पहचान खो रहा है।

व्यक्ति की स्वार्थपरता और धनलिप्सा ने उसे इतना अंधा बना

दिया है कि उसे अपने–पराये नहीं दिखते, केवल खुद का लाभ और खुद की कामना दिखती है। हमारे घरों में बुजुर्ग उपेक्षित हो रहे हैं, माता –पिता पीड़ित और संत्रस्त हैं और रिश्ते–नाते, उत्सव –आयोजन सब बेमानी होते जा रहे हैं। कहने को रिश्ते तो आज भी निभाये जाते हैं, उत्सव–आयोजनों पर तो एक रात या दो–चार घंटे में ही हजारों–लाखों का वारा–न्यारा हो जाता है पर यह सब ऊपरी और दिखावटी है। हम अपनी शान और तुष्टि के लिए कुछ भी करने पर उतारू हैं पर उसके भीतर न कोई अपनत्व की भावना है और न ही आत्मीयता की गंध। हमारी मानसिक दशा उन कागजी फूलों के समान है, जो सुंदर होकर भी असत्य और अनुपयोगी है।

हमारी परंपरा बंधुत्वपूर्ण, कौटुम्बिक और आत्मीयता की रही है। हम बड़े–से आँगन और दालान में साथ–साथ रहने के आदी रहे हैं, किंतु आज डिब्बे से बंद घरों ने हमे आस–पड़ोस और परिवेश से काट कर रख दिया है। हम कूड़ा खाद्य और नकली घरों के स्वाद और चमक के चंगुल में फँसते जा रहे हैं।

पश्चिमी सभ्यता ने हमें कुछ वैज्ञानिक सुविधाएँ जरूर दी हैं पर उसके दंश से हम अज्ञानी होते जा रहे हैं। हमारी अपनी संस्कृति और पहचान मिट रही है। हमारे ऋषि-मुनि अपनी सादगी और सरलता में ही संसार में सर्वश्रेष्ठ थे, हमारी प्राचीन कुमारियाँ वल्कल और कुटज-कुंतल में ही सर्वाधिक सुंदर और सुसज्जित थीं। कोई बताए जरा कि संसार में सीता, सावित्री और शंकुतला जैसी नारियाँ कब और कहाँ हुई!

हम यह भूल रहे हैं कि मनुष्य का शील, उसका सौंदर्य उसके कर्म में निहित है। वैसे भी सुंदरता भीतर की चीज है, बाहर की नहीं। हमारा कर्म सुंदर हो तो हमारी कुरूपता का कोई अर्थ नहीं होता। कहा जाता है कि महात्मा सुकरात बड़े कुरूप थे, किंतु बड़े प्रेम से दर्पण देखते थे। यह बात उनके शिष्यों को पची नहीं और वे छिपे तौर पर उनका उपहास करने लगे। महात्मा सुकरात को जब इस बात का आभास हुआ तो उन्होंने अपने शिष्यों को पास बुलाया और कहा कि तुम सब इसलिए हँसते हो कि मैं कुरूप होकर भी दर्पण क्यों देखता हूँ पर तुम यह जान लो कि मैं दर्पण देखते हुए विधाता से प्रार्थना करता हूँ कि तुमने मुझे कुरूप बनाया, कोई बात नहीं, किंतु मेरे कर्मों को ऐसा सुंदर कर दो कि मेरी कुरूपता ढक सके। दरद दीवानी मीरा अवश्य सुंदर थी पर महीयसी महादेवी और लता मंगेशकर को यदि कुरूप नहीं तो सुंदर भी नहीं कहेंगे। पर आज इस बात की ओर किसका ध्यान जाता है कि ये मनस्विनी महिलाएँ सुंदर हैं या कुरूप। आज सारा संसार उनके कर्मों का पूजक है। हमारे देश के निवर्तमान राष्ट्रपति महामहिम ए. पी. जे अब्दुल कलाम साहब के रूप की कितनी चर्चा होती है, किंतु वे अपने कर्मों से क्या सदा हमारे बीच पूजित नहीं रहेंगे। हम महात्मा कबीर, रहीम, रसखान, तुलसी, तुकाराम और नामदेव जी को अपने हृदय में क्यों बसाये फिरते हैं? क्या इसलिए कि वे बड़े रूपवान थे या फिर इसलिए कि उनकी करनी के आलेख ने हमारे मन-प्राण पर स्थायी छाप अंकित किए हैं।

अब भी भला क्या बिगड़ा है, जब जगा तभी सवेरा। क्या हम इन महात्माओं के पदचिह्नों का अनुसरण कर अपनी परंपरा में नहीं लौट सकते। क्या हमारी करनी हमें अमरता नहीं दे सकती । किंतु सोचने से नहीं, यह तो करने से होगा।

□

# नेह बराबर तप नहीं

कहा जाता है कि सबसे बड़ी तपस्या सच बोलना है। यदि किसी ने जीवन में कोई पूजा पाठ नहीं किया, कोई यज्ञ–अनुष्ठान नहीं कराया और परकल्याण –उपकार का कोई कार्य नहीं किया किंतु कभी झूठ नहीं बोला तो इससे बड़ा धर्माचरण और इससे बड़ी तपस्या कोई अन्य नहीं। महात्माओं की आजमायी हुई बात है तो इसमें संदेह की गुंजाइश भी नहीं है। वैसे भी यह बात तो बड़ी सरलता से समझी जा सकती है कि जो व्यक्ति सत्यवादी होगा, उसमें धर्म और कल्याण के सारे गुण स्वतः आ जाएँगे।

सत्य की शक्ति बड़ी है, किंतु प्रेम की शक्ति उससे रत्ती भर भी कम नहीं। जिस प्रकार सच परमात्मा को पाने का उत्तम रास्ता है, उसी प्रकार नेह भी उन तक पहुँचने की सच्ची राह। इन दोनों में एक बड़ा अंतर यह है कि सत्य की राह अत्यंत कठिन है, जबकि प्रेम का मार्ग अत्यंत आसान। कारण यह कि सत्य बाहरी तौर पर खुरदुरा, कुरूप और कड़वा होता है, भीतर भले जितना भी मीठा हो परंतु प्रेम बाहर–भीतर मीठा–ही –मीठा होता है। कदाचित सत्य की इसी बाहरी कुरूपता और कड़वेपन के कारण युग पुरुष गाँधी- उसमें व्यावहारिकता की थोड़ी चासनी मिला दिया करते थे। स्वयं महानायक श्रीकृष्ण ने भी अपने समय में ऐसा ही किया था।

सत्य की शक्ति असीम है पर प्रेम की शक्ति निस्सीम। सत्य

पराजित हो या नहीं पर परेशान अकसर होता है किंतु प्रेम न तो पराजित होता है और नहीं परेशान। वह केवल और केवल विजेता होता है।

राधा और मीरा प्रेम की इसी शक्ति के प्रतिमान स्वरूप जन-जन की अंतरात्मा में रची-बसी हैं और शबरी की इसी शक्ति ने उसे उच्च आसन पर आसीन किया। हमारे प्राचीन और परवर्ती साहित्य में वही रचना अपेक्षाकृत श्रेष्ठ और कालजयी हुईं, जिनमें प्रेम का परिपाक हुआ है। सूर, तुलसी, मीरा, जायसी, बिहारी और कबीर अपने हृदय के इसी तत्त्व के कारण जनमानस में इतने प्रिय और प्रसिद्ध हुए।

प्रेम पर प्रायः यह आरोप लगाया जाता है कि वह अंधा होता है और उचित-अनुचित, भला-बुरा नहीं देखता। दरअसल प्रेम व्यक्ति-चित्त का वह भाव है, जो अन्य के अस्तित्त्व को उदारता से स्वीकार कर अपने अस्तित्व को उसमें लय करता है। यह वस्तु सुंदर है और यह मेरी हो जाए, ऐसा सोचना लोभ है किंतु यह सुंदर वस्तु सदैव बनी रहे यह प्रीति है। प्रेम प्रीति से कुछ भिन्न है, प्रेमी यह चाहता है कि मेरा प्रियपात्र मुझे भी उतना ही चाहे, जितना मैं उसे चाहता या चाहती हूँ। इस प्रकार प्रेम में सह-अस्तित्व की स्वीकृति होती है। जब प्रेम में

अस्तित्व का विसर्जन या समर्पण आने लगे तो समझना चाहिए कि वह प्रेम भक्ति की कोटि में परिणत हो चुका है। प्रेम से मिलती-जुलती एक प्रवृति और है, वह है श्रद्‌धा, किंतु श्रद्‌धा में श्रद्‌धेय के प्रति पूज्य भाव रखते हैं और हम चाहते हैं कि उनके प्रति दूसरे भी पूज्य भाव रखें किंतु प्रेम में पूज्य भाव न होकर समत्व या अपनत्व का भाव होता है। हम जिसपर श्रद्‌धा रखते हैं, उसपर कोई और श्रद्‌धा रखे तो हमें एतराज नहीं होता किंतु हम जिससे प्रेम करते हैं, उससे कोई प्रेम करे तो हमें सहन नहीं होता। इस प्रकार हमारा प्रेमभाव कभी-कभी हममें अमर्ष भाव का भी जनक हो जाता है, फिर भी प्रेम मनुष्य-मन की एक अनुकूल और श्रेष्ठ प्रवृत्ति है, जो सत्य आदि दूसरी मनोवृत्तियों से कई गुना श्रेष्ठ है क्योंकि बिना प्रेम या नेह के होना संभव नहीं है और यदि इसके बिना कुछ संभव होता है तो वह विनाश है।

आज के वैज्ञानिक और तकनीकी युग में हम अति उपयोगितावादी या यों कहें कि उपभोक्तावादी हुए जा रहे हैं। हम व्यक्ति या वस्तु को उपभोग की दृष्टि से इस्तेमाल करना चाहते हैं। एक नई टेक्नालॉजी का मोबाईल सेट आते ही पुराने को हम बदल देना चाहते हैं। पूर्वजों के बनाये मकान, उनकी दी हुई चीजें, उनके लगाये हुए पेड़ अब हमारे लिए नेह और लगाव की वस्तु नहीं हैं। हमारे माता-पिता, बंधु-बांधव, सगे- संबंधी से हमारा अपनत्व-ममत्व दिनानुदिन घटता जा रहा है। रिश्तों और सामाजिकता की उपेक्षा हो रही है और हम ऐकान्तिक और एकमुखी होते जा रहे हैं। क्या सचमुच आने वाले दिनों में मनुष्य का हृदय मशीनी हो जाएगा और उसकी संवदेना बिलकुल मर जाएगी! मेरा मन कहता है कि जब ब्रह्मास्त्र और दिव्यास्त्र के युग में ऐसा नहीं हुआ, तीर-तलवारों का युग मनुष्य की इस महानतम चित्तवृत्ति को आहत नहीं कर सका तो प्रक्षेपास्त्र भी हमारी इस वृत्ति को कभी नष्ट नहीं कर पाएगा। सदा-सदा से प्रेम का साम्राज्य रहा है और रहेगा इसलिए नेह से जुड़िए और नेह से जुड़ाइए।

□

# जुड़ना सीखें

विधाता की रचनाओं में मानव को सवोत्तम माना जाता है। कहा जाता है कि हम मनुष्यों की रचना बड़े मनोयोग से और सोद्देश्य हुई है। यदि यह मान लिया जाए कि संसार पंचमहाभूतों के परस्पर सहज मेल का ही परिणाम है तो भी योग, जोड़ या मेल का महत्त्व सहज सिद्ध हो जाता है। अतः मनुष्य का यह धर्म है कि वह आपस में मेज–जोल से रहे।

जीवन है तो संघर्ष स्वाभाविक है और समूह है तो परस्पर प्रतिरोध और मत–है तो परस्पर मत–भिन्नता भी रहेगी। पर इस भिन्नता या विरोध को ही अपना धर्म बना लेना मानव की सबसे बड़ी भूल है। कुछ लोगों की आदत होती है कि वे अपना खूँटा गाड़कर अड़े रहते हैं और जौभर भी टसमस होने को तैयार नहीं होते, ऐसे लोग स्वयं और समाज के विकास में सबसे बड़े बाधक होते हैं।

महाभारत में दुर्योधन की और बहुत हद तक स्वयं धृतराष्ट्र की भी यही मनः स्थिति थी, जिसका भयंकर दुष्परिणाम आर्यावर्त को झेलना पड़ा और जान –माल की अपूरणीय हानि हुई। महानायक श्रीकृष्ण के लाख प्रयासों के बावजूद जब दुर्योधन ने सुई की नोक भर भी जमीन देना स्वीकार नहीं किया तो भीषण नरसंहार ही एकमात्र विकल्प बचा। अगर दुर्योधन ने पांडवों को पाँच गाँव देना स्वीकार कर लिया होता तो स्थिति शायद कुछ और ही होती।

आज दुनिया के अमीर और गरीब सारे देश परमाण्वस्त्रों का जकीरा खड़ा करना चाहते हैं, रोटी, कपड़ा, मकान, शिक्षा और स्वास्थ्य के मद में जो व्यवस्था होनी चाहिए थी, उसका अधिकांश भाग देशों के रक्षा-वजट की आहुति चढ़ जाता है। हमारे परिवार और समाज की दशा भी कुछ बेहतर नहीं है, हम अपने पास-पड़ोस के प्रति सशंक और सतर्क रहते हैं। यह सब मानवता के विकास कि दिशा में अत्यंत शर्मनाक अवरोध है। कितने आश्चर्य की बात है कि एक ओर मनुष्य की रचनात्मक और परस्पर सहयोग-वृत्ति में दिनानुदिन प्रगति होती-सी दिखती है और दूसरी ओर उसकी पशुता भी उफान चढ़ती चली जा रही है।

महात्मा कबीर के बारे में कहा जाता है कि वे समाज की बुराइयों

पर सदैव तीखा प्रहार करते थे और अंधविश्वासियों की खोज-खबर लेने में जरा भी चूकते नहीं थे। किंतु, उनका यह सब प्रयत्न समाज को एकता और ममत्व के मजबूत धागे से जोड़ने के निमित्त ही था। उनकी स्पष्ट घोषणा है- 'सोना सज्जन साधुजन, टूटै जुरै सौ बार' इसलिए सज्जनता इसी में है कि हम मेल-जोल से रहना सीखें। आज हमारी शिक्षा-व्यवस्था रोजगारोन्मुख होती जा रही है। हमारा इस बात पर अधिकाधिक बल रहता है कि विद्यार्थियों को ऐसी शिक्षा दी जाए, उनके लिए ऐसे पाठ्यक्रमों का

निर्माण किया जाए कि वे रोजगारोन्मुख हो सकें। यह बात निःसंदेह अच्छी तो है, किंतु इस नीतिविहिन शिक्षा -पद्धति ने विद्यार्थियों को आत्मनिष्ठ और एकांगी होने की दिशा में प्रेरित किया है। यद्यपि मैट्रिक तक की कक्षाओं में विज्ञान और समाज-शास्त्र के विषय समान रूप से पढ़ाये जाते हैं, किंतु इन दोनों ही प्रमुख विषयों को विद्यार्थी अपने जीवन-यापन और रोजी-रोटी से जोड़ कर देखते हैं, फलतः शिक्षण- उद्देश्यों की परिपूर्ति नहीं हो पाती है और विषय अपनी संपूण ाता में विद्थार्थियों के भीतर उतर नहीं पाता है। आज समाज-शास्त्र की शिक्षा पाने वाले कितने ऐसे विद्यार्थी हैं, जिनका समाज और उसकी समस्याओं से वास्तविक जुड़ाव है! हालत यह है कि समाज-विज्ञान के पंडितों के समक्ष ही अनीति और अन्याय का तांडव चलता रहता है, किंतु वे सब जानकर भी अनजान बने रहते हैं और किनारा किए रहते हैं। विज्ञान के क्षेत्र में भी रचनात्मक और मौलिक उद्भावनाओं का प्रायः अकाल ही है; विज्ञान और तकनीक के नाम पर पृष्ठपेषण के अलावा और कुछ नहीं हो रहा है।

साहित्य, संस्कृति और कला का भी हाल अत्यंत बुरा है। इन क्षेत्राों में भी स्वतंत्र चितंन और मौलिक उद्भावना के बजाय नकल और आवृत्ति से काम चलाकर पेट-पूजन का उपाय भर किया जा रहा है। इस एकांगी शिक्षा-नीति ने नई पीढ़ी को परिवार और समाज से काटकर रख दिया है। परिणामस्वरूप परस्पर मेल-जोल और सौहार्द्र की

भावना में भारी कमी आयी है।

यह एक सुखद संयोग है कि वैज्ञानिक यंत्रों के विकास से लोगों को परस्पर संबंध-स्थापन और मेल-जोल बढ़ाने की अपार सुविधा मिली है। आज मोबाईल फोन, फेसबुक, वाट्सएप्प आदि के जरिये हम चाहें तो दूरस्थ-से-दूरस्थ लोगों, परिचितों अथवा अपरिचितों से जुड़कर अपने मन की बात कर सकते हैं और आपसी मेल-जोल बढ़ा सकते हैं। हम चाहें तो अपने विचार के पक्ष या विपक्ष में अनेक लोगों की सहमति-असहमति लेकर एक जनान्दोलन खड़ा कर सकते हैं। ऐसा हो भी रहा है, किंतु दुर्भाग्यवश इन सुविधाओं का घृणित और नकारात्मक पक्ष भी हमारे समक्ष आए दिन उजागार होता रहता है।

इस तेजी से बदलते परिवेश में हमें अपना तटस्थ मूल्यांकन करना होगा और अपनी परंपरा को संरक्षित रखने की दिशा में तहेदिल से प्रयासरत होना होगा। कम-से-कम यदि हम नये रिश्ते नहीं जोड़ सकते तो जुड़े हुए रिश्तों को तो बचा सकते हैं। कविवर रहीम ने शायद इसी को लक्ष्य करके कहा होगा-

**रहिमन धागा प्रेम का मत तोड़ो चटकाय।**
**टूट परै फिर ना जुड़ै जुड़ै गाँठ पड़ि जाय।।**

□

# मेरो मन अनत कहाँ सुख पायो

कभी-कभी ऐसा होता है कि किसी बाह्य परिस्थिति या कारण से मन बिलकुल बैठ जाता है। ऐसी दशा में राग और भोग की सारी सामग्री फीकी प्रतीत होती है और मन किसी एकांत या शून्य में विचरण करने लगता है। और तब इस सच का आभास होता है कि सुख या दुख कोई बाहर की चीज नहीं बल्कि हमारे नितांत भीतर की वस्तु है।

मैं जब भी किसी बच्चे को कटी पतंग या उड़ती हुई तितली के पीछे दौड़ता देखता हूँ तो अकस्मात अपने बचपन की याद आ जाती है। कितने अच्छे थे, वे दिन; खाना, खेलना और अपनी मन-मर्जी का करना। न कोई चिंता, न अभाव और न ही दुख। अगर किसी की डाँट-फटकार भी लग गई तो कोई बात नहीं, ज्यादा-से-ज्यादा दस-बीस मिनटों या बहुत तो घंटे-दो घंटे में फिर वही अल्हड़पन लौट आया। किंतु आज, आज तो जो बात मन में बैठ जाती है, वह धकियाने पर भी निकलने का नाम नहीं लेती।

मेरा अनुमान है कि पशुओं और दूसरे प्राणियों में सरलता अपेक्षाकृत ज्यादा बची हुई है, इसीसे उन्हें दुख या विषाद के झमेले में नहीं पड़ना पड़ता है। उनमें यह सरलता शायद इसलिए ज्यादा सुरक्षित है कि वे पूर्णतः प्रकृति के सान्निध्य में हैं। इन पशुओं में भी जिन्हें मनुष्य की संगति मिल गई है या जो इनके साहचर्य में रहने को विवश किए गए

हैं, उनमें प्रायः इस प्राकृतिक सरलता का अधिकांश लुप्त हो गया है और मनुष्य की सरलता को तो सीधे-सीधे उसकी कृत्रिमता ने लील ही लिया है। बढ़ती हुई आबादी के कारण आदमी के वास का दायरा निरंतर तंग होता जा रहा है। अब पेड़-पौधे, नदी-तालाबों, पशु-पक्षियों और खेत-खलिहानों से हमारा पहले जैसा आत्मीय सरोकार नहीं रहा। सरोकार तो आज भी है, किंतु उसमें उपभोग, मनोरंजन, व्यवसाय और लाभ की मात्रा ही अधिक है। एक जमाना था, जब कबूतर या पडुंकी के अंडे हमारे हाथ से टूट जाने पर हमारी माताएँ रोजा और उपवास रखती थीं, अपने देवी-देवताओं से हमारी नासमझी के लिए मुआफी माँगती थीं और हमारी सलामती की दुआ करती थीं, किंतु आज सबकुछ बदल रहा है। आज लोगों को अपने मनोरंजन और लाभ के कारण बहुत तो अपने पालतू पशु-पक्षियों की थोड़ी बहुत फ्रिक है वरना परिदों-चरिंदों और पेड़-पौद्यों की खबर भला किसे है।

हमारे शास्त्रों में पेड़-पत्तियों, लता-गुल्मों और पशु-प्राणियों से हमारे नायक-नायिकों के स्नेह- साहचर्य का विशद वर्णन मिलता है, जो इस बात का प्रमाण है कि प्राचीनकाल में लोगों के मन में सृष्टि के समस्त प्राणियों के प्रति असीम करुणा थी; इतना ही नहीं पहाड़, नदी, तालाब और दूसरे अन्यान्य पदार्थों से भी वे इसी भाँति अपनत्व का भाव रखते थे पर आज सबकुछ बदल-सा गया है। यह केसी विडंवना है कि एक ओर हम विश्व पर्यावरण दिवस, विश्वबंधुत्व और मानवधिकारों की बात करते हैं और दूसरी ओर हम अपने आस-पड़ोस और घर-परिवार में ही अपने आप को अकेला और उपेक्षित महसूस करते हैं।

एक अच्छी बात यह है कि आपको आज भी अपने आस-पास कुछ ऐसे लोग दिख जाएँगे, जिनके जीवन की असली पूँजी यही सरलता है। वैसे लोग जो बच्चों को देखकर सहज ही चहक उठते हैं, जिनकी बात-बात में बत्तीसी दिख जाती है और जो मान- अपमान की चिंता किए बगैर किसी भी महफ़िल, उत्सव-आयोजन और राग-रंग में

मनभर कर लुत्फ उठाते हैं; सचमुच वही सुखी और सौभाग्यशाली हैं। मैं सोचता हूँ कि आदमी का बड़प्पन इसी में है कि वह आदमी दिखे, क्योंकि ओहदे और पदवी के प्रपंच में पड़ा हुआ आदमी तो अपनी ही नजरों में अजायब घर का प्राणी प्रतीत होता है। आज इस एकान्त क्षण में मैं अपने मन को समझाने बैठा हूँ कि हे मन! तुम जिस सुख की खोज में हो, वह इनसे अलग कहाँ मिलेगा!

□

# माटी चंदन बन जाती जब

आज देश-दुनिया में जो चल रहा है, उसे अतिशय दुर्भाग्यपूर्ण कहा जाना चाहिए। एक ओर शिक्षा का विकास हुआ है, अपने अधिकारों के प्रति जागरूकता आयी है और अन्याय तथा अनीति के खिलाफ खुलकर सामने आने का साहस लोगों में आया है, किंतु दूसरी ओर शिक्षा, समृद्धि और बौधिकता ने छल-प्रपंच और धोखाधड़ी को भी काफी बढ़ावा दिया है। एक ओर घर-परिवार में छल-प्रपंच बढ़ा है, पास- पड़ोस में ईर्ष्या-द्वेष में बढ़ोतरी हुई है तो दूसरी ओर सड़क से लेकर संसद तक स्वेच्छाचारी प्रवृत्तियाँ बढ़ी हैं। दुख और आश्चर्य की बात तो यह है कि ऊपर- ऊपर सबकुछ ठीक-ठाक दिखाई पड़ता है, उन्नति और विकास के हजार रास्ते सूझते-से दीखते हैं, किंतु बीच-बीच में ऐसा व्यवधान आता है, ऐसी घटनाएँ घटती हैं कि आत्मा आंदोलित हो उठती है।

कितने दुख की बात है कि आज देश के हजारों नौजवान गुमराह हो रहे हैं। हमारा भारत युवाओं का देश कहा जाता है क्योंकि जितने तरुण और युवा वर्तमान समय में भारत में हैं, उतने दुनिया में अन्यत्र कहीं नहीं। हमारी युवा शक्ति अनुपम और अद्वितीय है, किंतु इन्हीं युवाओं में बहुत-से ऐसे हैं, जो अपनी शक्ति और प्रतिभा का भारी अपव्यय कर रहे हैं। देश के लिए उद्योग-धंधे, व्यवसाय और अन्य रचनात्मक कार्यों में लगने के बजाए वे आए दिन देश विरोधी

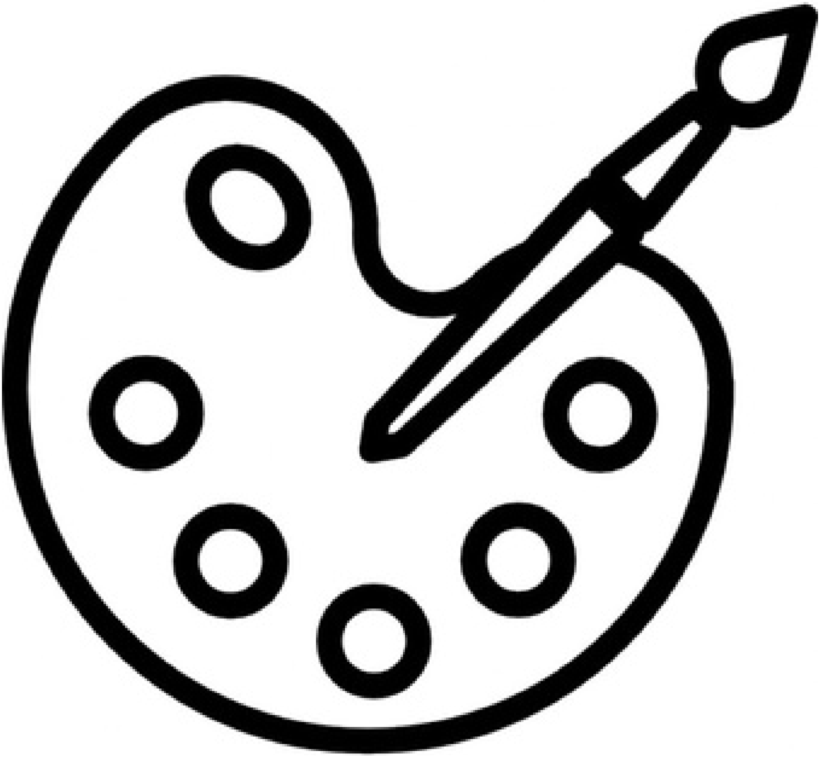

गतिविधियों में संलिप्त हो रहे हैं। न केवल वे लोग, जो शिक्षा और साधन-विहीन हैं बल्कि वे लोग भी जो शिक्षित और संपन्न हैं। देश के नामी विश्वविद्यालयों में अध्ययनरत छात्र-छात्राएँ और ऊँची डिग्रीधारी युवक पता नहीं किस लोभ, लालच और विवशता में पड़कर ऐसे कारनामे कर जा रहे हैं कि देश का सिर ग्लानि और शर्म से झुक जा रहा है। निरक्षरों और अनपढ़ों को तो गुमराह करने वाले पट्टी पढ़ाकर थोड़ी देर के लिए अपने काबू में कर सकते हैं पर एम. फिल और

डी. लिट् करने वाले लोग भी यदि उसी राह पर चल पड़ें तो सोचना पड़ता है कि वे कौन-सी परिस्थितियाँ हैं, जिनके पाश में पड़कर हम पराधीनता की दिशा में कदम-दर-कदम अग्रसर हो रहे हैं।

प्राय: यह कह दिया जाता है कि देश में रोजगार के अवसर

उपलब्ध नहीं हैं और हमारी सरकार के पास युवाओं के उत्थान की कोई ठोस योजना नहीं है पर वास्तव में ये बातें सत्य नहीं हैं। ठीक है कि देश में बेरोजगारी है और जनसंख्या के अनुपात में अवसर कम उपलब्ध हैं; कदाचित भटकाव का यह एक कारण हो सकता है लेकिन यही मात्र वजह नहीं है। हुआ यह है कि अभिव्यक्ति, आचरण और धर्म की स्वतंत्रता मिलने के कारण बहुत से लोगों ने हमारी इन उदार नीतियों की व्याख्या अपने मन मुताबिक कर ली है और वे दिनानुदिन स्वेच्छाचारी होते चले जा रहे हैं। आज से दो –चार सौ वर्ष पूर्व निस्संदेह हमारा देश अनेक घिसी– पीटी मान्यताओं और रूढ़ियों से ग्रस्त था पर उस समय अनेक ऐसी बातें थीं, जो आज की तुलना में ज्यादा नैतिक, सामाजिक और श्रेष्ठ थीं। लोगों में अपने आर्षग्रंथों यथा वेद, पुराण, महाभारत, रामायण आदि के प्रति पूज्य भाव व्याप्त था और इन श्रेष्ठतम कृतियों में अंकित विचारों के प्रति अपार श्रद्धा थी। आज पश्चिमी सभ्यता और वैज्ञानिक व्याख्याओं के फलस्वरूप युवा पीढ़ी के विचार अत्यंत द्रुत गति से बदल रहे हैं और उनके बीच उपभोक्तावादी अप– संस्कृति का उदय हो रहा है। फलस्वरूप अपनी संस्कृति और परंपरा से दूर होते युवक आत्मतुष्टि को ही अपना सर्वस्व मान चुके हैं। यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि इस आत्मतुष्टि का भी अर्थ पूरी तरह परिवर्तित हो चुका है, पहले जहाँ अपनत्व, भाईचारा, परोपकार और परदुखकातरता में हमें आत्मतुष्टि होती थी, वहीं अब कपड़े, जूते, गाड़ियाँ, बँगले और क्षणिक शारीरिक सुख हमारी आत्मतुष्टि के माध्यम बन रहे हैं।

सत्ता का गलियारा हो, शहर का चौराहा, खेत की मेड़ या कौम की सरहद कहीं भी सत्यनिष्ठ, समर्पित और सबल चरित्र दिखाई नहीं पड़ता। आज हमारी मीडिया मैनेज हो जाती है, प्रशासन खामोश हो जाता है और न्याय की देवी दीर्घ गुह्य साधना पर बैठ जाती हैं। ऐसे में असंतोष, अन्तर्कलह और आक्रोश का वातावरण तैयार होने लगता है और जो रही–सही कसर बचती है, घात लगाए बैठे हमारे पड़ोसी

मुल्कों के कुछ उन्मादी लोग मौका पाकर उसे पूरा कर डालते हैं। किंतु, क्या हमारी तेज-तर्रार, विवेकशील और बुद्धिमान युवा पीढ़ी इन सब कुचक्रों को भेदकर भारत के भाल को उठाये नहीं रख सकती है। क्या वह साँचा सदा के लिए टूट गया है, जिसमें राम, कृष्ण, कबीर, तुलसी, गाँधी, सुभाष और टैगोर जैसे चरित्र ढलते थे!

सब मुमकिन है, असंभव कुछ भी नहीं है, हमारी युवा शक्ति कुछ भी कर सकती है, किंतु तब, जब देश की माटी उसके सिर के चंदन और सिंदूर हों।

□

# मन का स्वरूप

**मन की गति है परे माप के**
**उसकी ठौर न एक,**
**लाख करे कोई साधना**
**काम न आवै टेक।**

मन स्वभाव से चंचल है और चाहकर भी हम किसी का स्वभाव नहीं बदल सकते, न अपना, न औरों का और न ही मन का। इस विराट् प्रकृति में जितने प्राणी-पदार्थ हैं, सबका अपना अलग स्वभाव है। धूप गर्मी देगी और चाँदनी शीतलता, खजूर फल देगा और बरगद छाया, पत्थर कठोर होगा और पानी तरल। ठीक उसी प्रकार हमारे शरीर के स्थूल तथा सूक्ष्मातिसूक्ष्म अवयवों के भी अपने स्वभाव हैं। दिल का स्वभाव है स्थिर रहकर धड़कना और मन का स्वभाव है, चंचल रहकर उन्मुक्त विचरण करना।

स्वामी दयानंद सरस्वती ने कहा कि हमारा मन सरसों की पोटली के समान है, यदि यह एक बार खुलकर बिखर जाए तो इसे सहेजना असंभव है। हमारे प्राचीन साहित्य में और हमारी दंतकथाओं में इस बात के प्रभूत प्रमाण है कि हमारे देवता, ऋषि-महर्षि और मुनियों को भी अपने मन को नियंत्रण में रखने के लिए बड़ी कठिन साधना

करनी पड़ती थी, फिर भी यथाअवसर उनका मन उनके नियंत्रण के बाहर हो जाता था। स्वयं भगवान सदाशिव से लेकर महर्षि विश्वामित्र तक, सब के सब कभी-न-कभी अपने मन के अधीन हुए हैं और उनकी साधना, तपस्या या अडिगता खंडित हुई है।

साधारण मनुष्य के लिए अपने मन को साधना असंभव-सा ही है। सामान्य मनुष्य का जीवन दुख-सुख, भाव-अभाव, ईर्ष्या-मैत्री और आदान-प्रदान के सहज दायरे में गुजरता है। उसे बड़ी-बड़ी उपलब्धियों, अध्यात्म की ऊँचाइयों और दर्शन चिंतन के गूढ़ रहस्यों से भला क्या सरोकार! रोटी, कपड़ा, मकान, कर्ज, उधार, मरनी और विवाह, ढोर और जमीन ही उसके चिंतन, मंथन और दर्शन के विषय हुआ करते हैं। जिसकी थाली में शरीर साधने के लिए पर्याप्त और संतुलित सामग्री न हो, भला वह कब और किस हौसले से मन साधने की बात करेगा और यदि ठीक से देखा जाए तो उसके न साधने पर भी बिना उसके प्रयत्न के उसके जीवन का अभाव ही उसके मन को अच्छी तरह साधे और बाँधे रहता है। इन्हीं लोगों में कुछ ऐसे भी अक्खड़ मिल जाते हैं, जो न जाने अपनी किस शक्ति से उस रहस्य का क्षण में ही बोध पा जाते हैं, जिसे जानने के लिए बड़े-बड़े महात्मा वर्षों तक जंगलों की खाक छानते और पत्थरों में नाक रगड़ते हैं। इन लोगों से पूछिए तो तपाक से कहेंगे कि जीवन जीने के लिए और मन मचलने के लिए ही मिला है तो फिर इसे नियम और संयम में बाँधने का भला क्या अर्थ और औचित्य है। बात तो सही है, किसी को उसके स्वभाव से हटा देना या फिर हटाने की चेष्टा करना तो प्रकृति विरोधी आचरण है और उसकी संरचना में व्यवधान है। हम अक्सर काल्पनिक चित्रों में देखते हैं कि हमारे ऋषि- मुनि लम्बे जटाजूट और बड़ी-बड़ी दाढ़ी रखते थे, संभव है कि उनके नाखून भी बड़े-बड़े रहते हों, ऐसा इसीलिए न कि वे प्रकृति के स्वभाव में, उसकी मूल प्रकृति में बाधा खड़ी करना नहीं

चाहते थे। हम देखते हैं कि जैनियों में दिगम्बर और नागा संन्यासी ऐसे हैं, जो वस्त्र भी धारण नहीं करते, इसके पीछे भी उनकी यही अवधारणा है।

हमारे इस मन को केन्द्र में रखकर अनेक महान् ग्रंथ लिखे गए। हमारे उपनिषदों में तो आत्मा- परमात्मा, मन, बुद्धि विवेक, इन्द्रियाँ आदि विषयों पर विशद् चर्चा मिलती है और श्रीमद्भागवत् में भी मन एक मुख्य विषय है। यदि ठीक से देखा जाए तो हमारी 'गीता' मानव-मन के अन्तर्द्वन्द्व का ही महाकाव्य है। आज तो जीवन के हर क्षेत्र-कला, साहित्य, समाज- शास्त्र, न्यायशास्त्र आदि में मनोविज्ञान का विशेष ध्यान रखा जाता है पर सच्चाई यह है कि इतना सब अनुसंधान होने पर भी मन को समझ पाना अत्यंत टेढ़ी खीर है।

जहाँ तक मैं समझता हूँ कि इस मन का अध्ययन और विश्लेषण असंभव है, क्योंकि इस अखिल सृष्टि में जितने जीव हैं, उतने ही मन हैं और सबों के मन उसके अपने हैं और उसका स्वभाव भी दूसरे के मन के स्वभाव से भिन्न है, इसलिए यह संभव नहीं है कि कोई अध्येता इसका ठीक-ठीक विश्लेषण कर सके। मेमने और भेड़िये का मन और हिरण तथा बाघ का मन तो अलग है ही, मेमने से मेमने और हिरण से हिरण का मन भी भिन्न है।

इस बारे में जो बात मुझे सबसे दिलचस्प लगती है, वह यह कि बड़े-बड़े साधकों, महात्माओं और मनोविश्लेषकों की अपेक्षा महात्मा 'सूर' की अनपढ़ भोली-भाली गोपियों ने इस मन को भली भाँति समझ लिया था, तभी तो वे उद्धव जी से कहती हैं कि हे उधो! मन तो मेरे पास एक ही है और वह तो श्रीकृष्ण के प्रेम में अनुरक्त है, फिर भला आपकी ज्ञान की बातों में लगाने के लिए दूसरा मन कहाँ से लाएँ!

वास्तविकता भी यही है कि मन को नियंत्रित नहीं किया जा सकता! भला ऊर्जा और आवेग को हम केसे अधीन कर सकते हैं?

मन अत्यंत तीव्रगामी है, उसमें प्रबल गति और आवेग है। उसे हम किसी प्रतिकूल दिशा में या भिन्न-भिन्न दिशाओं में भ्रमण करने से भले ही रोक लें पर कोई एक दिशा ही सही, उसके परिभ्रमण के लिए तो हमें चुनना ही पड़ेगा, जैसा कि व्रजवासिन गोपियों ने चुना था। □

# स्वारथ के सब मीत

प्रायः ऐसा कहते हुए सुना जाता है कि इस घोर कलियुग में भी यह दुनिया इसलिए टिकी हुई है कि इसमें थोड़ा ही सही सत्य है, ईमानदारी, सदाचार और परोपकार है। जब इतने लोग ऐसा कहते हैं तो कुछ भी सच्चाई तो जरूर होगी, किंतु परस्पर के व्यवहार में आदमी प्रायः धोखा ही खाते देखा जाता है। एक छोटी-सी बात लें, आज की इस महँगाई में हजार-पाँच सौ रुपये का बहुत मोल नहीं है, हजार-पाँच सौ का मोल हो भी सही पर सौ-पचास का तो बिलकुल नहीं ही है। लेकिन, यदि आपके पास कोई ऐसा व्यक्ति आ जाए जो बड़े गरज में हो और यह कहकर सौ-पचास माँग ले जाए कि दिन-दो दिन में लौटा जाऊँगा तो आप यह निश्चय जानिए कि उसका यह दिन-दो दिन शायद ही आए और आयेगा भी तब, जब आप उसके सीने पर सवार होंगे।

आज घर-परिवार और पास-पड़ोस की स्थिति बड़ी अजीब होती जा रही है। आपके बच्चे हों या बड़े, उनकी हजार अपेक्षाएँ आप पेट काटकर पूरी कर दीजिए, उनकी इच्छाओं के सम्मान में हाथ जोड़कर खड़े रहिए, मान-अपमान छोड़कर उनकी खुशियों का ख्याल रखिए पर एक न दिन ऐसा आएगा कि सब किये-कराये पर पलभर में पानी फिर जाएगा। आज हर व्यक्ति औरों के समक्ष अपेक्षाओं की एक बड़ी फेरहिस्त लेकर खड़ा है। छोटी-छोटी और महत्त्वहीन बातों पर रिश्ते बनते और बिगड़ते देखे जा रहे हैं। आपने किसी का कॉल रिसीव नहीं

किया, किसी के मैसेज का उत्तर नहीं दिया, बस हो गई कुश्ती, आप बाद में कितने भी दाव-पेंच लगा लें, अपनी व्यस्तताओं और मजबूरियों की कितनी भी दुहाई दे लें, सामने वाला मुँह मोड़ कर खड़ा हो जाएगा, जैसे कि वह कभी से आपको जानता-पहचानता ही न हो। मित्रता की दशा तो और बुरी है, आज तो मित्रता लाभ-नुकसान-हैसियत और ओहदे देखकर योजना बनाकर की जाती है। आपसे अगर किसी का कुछ सरने वाला नहीं है तो समझ लीजिए और इत्मीनान हो जाइए कि आपको कोई पूछने वाला भी नहीं है।

गोस्वामी जी ने मानस में लिखा कि मित्र की पहचान विपत्तिकाल में होती है, उनके मित्र रहीम जी ने भी अपना अनुभव बहुत कुछ वैसे ही शब्दों में बयान किया, किंतु आज तो ऐसे-ऐस मित्र हैं, जो आपकी विपत्ति की कसौटी पर खड़ा उतरने के बदले अपने तुच्छ स्वार्थ को ही आपकी परख की कसौटी बनाए बैठे हैं।

कर्ण और दुर्योधन की मित्रता, राम और सुग्रीव की मित्रता में विचारों का साम्य और सत्य की रक्षा का विषय प्रमुख था या स्वार्थ का, यह एक अलग विवेचन और पड़ताल का विषय है, किंतु कृष्ण और सुदामा की मित्रता में श्रीकृष्ण का कौन-सा स्वार्थ सधता था, यह बात अवश्य सोचने की है।

मित्रता के बारे में सामान्य अवधारणा यह है कि सम आयु, सम विचार और सम साधन वाले लोगों के बीच की मित्रता प्रगाढ़ होती है परंतु मेरे देखने में सच्चाई कुछ भिन्न ही है। मैंने विषम वय और विषम विचार वाले लोगों के बीच ही गहरी छनती हुई पाया है। बात यह है कि जिस व्यक्ति में जिस बात, वस्तु या गुण का अभाव होता है, वह उसकी खोज या चाह में रहता है और उपयुक्त अवसर और पात्र के मिल जाने पर उसे अपनाकर तुष्ट होता है, कदाचित इसी कारण विषम

वय या स्वभाव की मैत्री भी टिकाऊ होती है। किंतु, आज तो स्थिति बिलकुल भिन्न है, आज तो लोग महीने -छह महीने में कपड़े और जूते की तरह मित्र भी बदल लेते हैं।

सुना तो यह भी जाता है कि यह दुनिया सिर्फ स्वार्थ पर ही टिकी है। लोग भाई–बहन, पुत्र–पिता, पति–पत्नी की माया में परस्पर इसलिए पड़े रहते हैं कि उनका एक दूसरे से स्वार्थ सधता है। इस स्वार्थ या इच्छा पूर्ति में किसी भी कारण यदि कोई बाधा आई, यदि कोई विरोध हुआ या जरा–सी खलल पड़ी तो पहले के डाले हजारों–हजार कसे बंधन ढीले पड़ जाते हैं और आदमी छिटक कर एकदम दूर जा गिरता है।

मनुष्य इसलिए मनुष्य है कि वह अपने मन की दुर्बलताओं का दास है, किंतु ये इच्छएँ और दुर्बलताएँ जब बेशर्मी का बाना धारण कर लेती हैं तो मन मलाल से भर जाता है, हृदय द्रवित हो उठता है, आत्मा आन्दोलित हो उठती है और स्नेह और भावुकता के भार वहन करने वाले सुंदर शब्द केवल और केवल भ्रमजाल प्रतीत होते हैं। काश! कोई ऐसा दर्पण होता जो खुदगर्जी के इस खूबसूरत इल्म को अपने अंदर पचाकर शेष सबकुछ प्रतिबिंबित करता!

□

## शिक्षा का व्यावहारिक पक्ष

शिक्षा का संबंध मनुष्य-मात्र के परस्पर व्यवहार, उसके क्रिया कलाप और आचरण में निरन्तर सकारात्मक परिवर्तन से है। शिक्षा इसलिए दी जाती या ग्रहण की जाती है कि हम अपने व्यवहार और आचरण में अधिकाधिक उदार, सहिष्णु और पूत हों, किंतु दुर्भाग्य की बात है कि आज भी हमारी शिक्षा-पद्धति अधूरी और एकांगी है। कहना तो यह चाहिए कि हमारी वर्तमान शिक्षा-व्यवस्या प्राचीनकालीन शिक्षा-व्यवस्था की तुलना में कुछ ज्यादा ही एकांगी है। गुरुकुल की शिक्षा में यदि शास्त्र और शस्त्र की निपुणता पर बल था तो परस्पर सहयोग, सहिष्णुता उदारता और धर्माचरण की भी कमी नहीं थी, किंतु आज की शिक्षा किसी हद तक सर्वसुलभ होने पर भी, आजीविका के लिए बहुत हद तक उपयोगी होने पर भी अपने बहुलांश में अव्यावहारिक और अनुपयोगी ही है।

हुआ यह है कि आज शिक्षा को प्रशिक्षण का पर्याय बनाकर विज्ञान और तकनीक को अत्यंत प्राथमिकता के साथ स्वीकार कर लिया गया है, फलस्वरूप हमारे बीच ऐसे लोग तो मिल जाते हैं, जो रोजी-रोटी और निर्वाह के लिए उपार्जन करने में सक्षम हैं पर सीमा से अधिक श्रम के बोझ और व्यक्तिगत आकांक्षाओं की पूर्ति में निरत होने के कारण उनका ध्यान न तो सामाजिकता की ओर है और न ही नैतिकता के पालन में वे समर्थ हैं। यहाँ यह आपत्ति की जा सकती है

कि आज के नौजवान सोशल मीडिया पर किसी दुखी या लाचार के बारे में जानकर उसकी सहायता हेतु ज्यादा तत्पर और तैयार दिखते हैं अथवा किसी शोषण या अत्याचार के विरोध में जल्दी खुलकर खड़े होते हैं तो फिर केसे कहा जाए कि वर्तमान शिक्षा –पद्धति एकांगी और अधूरी है? संभव है कि इसमें वर्तमान शिक्षा–पद्धति का भी योग हो पर इसके दूसरे भी कई कारण हो सकते हैं। मेरी राय में यह विषय नितांत भिन्न सर्वेक्षण की अपेक्षा रखता है, क्योंकि आकलन और आँकड़ों से ही यह पता चल पाएगा कि ऐसे मामलों में किन लोगों की सहभागिता अधिक है और उसका वास्तविक कारण क्या है?

आज की शिक्षा पद्धति के पक्ष में इतना अवश्य कहा जा सकता है कि उसकी वस्तुपरकता और यथार्थता में अवश्य अभिवृद्धि हुई है और वह व्यर्य के आदर्शों के बोझ से बहुत हद तक मुक्त हुई है; किंतु शैक्षिक नीति–निर्धारण के समक्ष यह एक बड़ी चुनौती है कि आदर्शों, परंपराओं और सहृदयता को पाठ्यक्रमों में कितना स्थान मिलना चाहिए, क्योंकि आदर्शों, संस्कृतियों और मूल्यों के अभाव में शिक्षा का क्या कोई मोल–महत्त्व भी रह जाएगा!

मेरी समझ में वायुयान बनाने की विधि या चाँद पर पहुँचने के ज्ञान से घर–परिवार और पड़ोस से ताल्लुक रखने का अनुभव अर्जित करना कहीं ज्यादा जरूरी है, क्योंकि हमारी दिनचर्या इन्हीं के बीच पूरी होती है। आज कक्षाओं के पाठ्यक्रम से मीरा और सूर के पद लुप्त हो रहे हैं, महावीर और बुद्ध के वचनों की अनदेखी हो रही और कबीर तथा तुलसी को अप्रासंगिक ठहराने की कवायद चल रही है , फ्रेंच और अँग्रेजी सीखने के फेर में मातृभाषा को तिलांजलि दी जा रही है, फिर भी हम अपनी शैक्षणिक प्रगति से संतुष्ट हैं! अँग्रेजों ने हम पर अपनी शिक्षा–नीति थोपकर हमें जबरन क्लर्क बनाया; किंतु आज हम इंजीनियरिंग और एम. बी. ए. डिग्री लेकर स्वयं क्लर्क बनने पर आमदा हैं।

आप विद्यालयों से लेकर विश्वविद्यालयों और विविध

अनुसंधान-केन्द्रों के पाठ्यक्रमों की पड़ताल कर लीजिए और तय कीजिए कि शिक्षार्थियों को जो विषय परोसे जा रहे हैं, उनमें व्यावहारिकता, सहिष्णुता और सदाचार के अंश किस मात्रा में मौजूद हैं।

चाँद पर सबसे पहले कौन गया, परमाणु की खोज किसने की अथवा बादलों को वर्षा के लिए केसे मजबूर किया जाए- ऐसे विषय निः संदेह महत्त्व के हो सकते हैं पर उससे भी अधिक महत्त्व की अनेक ऐसी बातें हैं, जिन्हें प्राथमिकता के साथ हमारे विविध पाठ्यक्रयों में स्वीकार किया जाना चाहिए।

हमारा और औरों का जीवन महत्त्वपूर्ण है, हमारे होने पर ही और बातों की उपयोगिता है और सिर्फ हमारा होना ही काफी नहीं है, हमारे होने या रहने के लिए औरों का होना-रहना भी जरूरी है- हमारी दृष्टि में हमारी शिक्षा-पद्धति में इन बातों का होना निहायत जरूरी है, किंतु क्या हमारे नीति निर्धारकों को इसकी चिंता भी है!

□

# परमात्मा का स्वरूप

परमात्मा कौन है, केसा है और किस रूप– आकार में स्वयं को अभिव्यक्त करता है, इस विषय पर हजारों वर्षों से मंथन होता चला आ रहा है किंतु उसके वास्तविक स्वरूप का किसी को ठीक–ठीक अता–पता नहीं है। आजकल तो ऐसा भी कहा जा रहा है कि वह है ही नहीं और उसके बारे में अब तक जो भी कहा गया है, वह सब केवल कोरी कल्पना है। कुछ लोग ऐसे भी हैं, जो पंच महाभूत या फिर प्राणवायु को ही परमात्मा मानते हैं। न जाने क्यों मैं इन बातों से सहमत नहीं हो पाता हूँ। यदि अग्नि, जल या फिर वायु ही परमात्मा हैं तो इनकी उपलब्धता होने पर हमारे प्राणों पर कोई संकट नहीं होना चाहिए। बहुत–से लोग करते हैं कि हमारा जीवन प्राणवायु पर निर्भर है और शरीर में जब तक इसकी परिपूर्ति होती रहती है, तब तक हमारी साँसें चलती रहती हैं और हम जीवित रहते हैं। इस तरह से देखा जाए तो साँसों को बनाये रखने वाली प्राणवायु ही परमात्मा है। अगर ऐसा ही है तो किसी बीमार व्यक्ति को वेंडीलेटर पर रखकर अलग से ऑक्सीजन दी जाती है तो उसे मरना नहीं चाहिए किंतु सभी मामलों में ऐसा होता तो नहीं है! कहने का गरज यह कि न तो प्राण ावायु परमात्मा है और न ही पंच महाभूत और न ही प्रकृति। ये सब तो कदाचित उसके द्वारा सृजित उपादान हैं, जो जीवन को बनाये रखने में सहायक हैं। सृष्टि की उत्पत्ति और जीवन का उद्‌भव ये दोनों ही

ऐसे रहस्यमय विषय हैं, जिन्हें कहना ही ठीक है। वेद और उपनिषद्, सांख्य, न्याय और चार्वाक, बुद्ध, महावीर और कबीर आदि अनेक शास्त्रों, दर्शनों और विचारकों ने अपने आकलनों और अनुभूतियों के अनुरूप उस सूक्ष्म तत्व को समझने का प्रयास किया है किंतु कौन सत्य के करीब है, यह समझ पाना अत्यंत कठिन है।

जहाँ तक मैं समझता हूँ, महात्मा कबीर ने अपनी सहज बुद्धि से सारे अगम-निगम का सार ग्रहण कर लिया था। "लाली मेरे लाल की जित देखो तित लाल, लाली देखन मैं गई, मैं भी हो गई लाल" कहकर उन्होंने जिस तथ्य की ओर संकेत किया है, वही ज्याहा समीचीन प्रतीन होता है।

परमात्मा कौन और कैसा है, यह कहना तो बड़बोलापन होगा, किंतु वह नहीं है, ऐसा कहना भी घोर मूर्खता है, क्योंकि वह है नहीं तो उसकी इतनी चर्चा क्यों है! उसके वजूद के बिना क्या संसार का वजूद संभव है! मैं तो इतना ही जानता हूँ कि हम जिस दृष्टि से उसे देखते हैं, हमारे नयनों में वह उसी रूप में साकार होता है और हृदय में जिस भाव से उसे बिठाते हैं, वह उसी स्वभाव में अनुभूत होता है।

□

# होनहार वीरवान के होत चिकने पात

एक पुरानी कहावत है कि सुबह का सूरज ही यह भान करा देता है कि आज का दिन केसा होगा। होनहार और प्रातिभ लोग ऐसे ही होते हैं, उनकी विलक्षणता किसी-न-किसी रूप में बचपन से ही झकलने लगती है। नचिकेता और प्रह्लाद ने बचपन में ही अपने पिता को निरूत्तर और परस्त किया था, बुद्ध, महावीर, कबीर, सूर और तुलसी बचपन से ही विलक्षण थे; मीरा और महादेवी आरंभ से ही औरों से भिन्न थीं और लक्ष्मी बाई तथा चन्द्र शेखर आजाद का बचपन भी सबों से अलग था।

गुलाब का पौधा हो या आम का बिड़वा- इनकी सुगंध और रस का आभास हमें पहले ही मिलने लगता है। यह स्वाभाविक भी है कि कलम यदि आरंभ में ही मरियल और ठूँठ दिखने लगे तो भला आगे के लिए उससे क्या उम्मीद बाँधी जा सकती है! आदमी के बारे में भी कुछ ऐसा ही ख्याल रखना चाहिए। सोच- सोचकर बोझिल होने वाला और कूथ-कथ कर काम करने वाला व्यक्ति कभी किसी मुकाम को हासिल नहीं कर पाता; मंजिल तो झपटने से हाथ आती है और उसके लिए जिंदादिली चाहिए। किनारे पर बैठकर लहरें गिनने वाला आदमी जीवित नहीं कहला सकता, जीवित तो वह है जो गोते लगाकर मूँगा और मोती ढूँढ़ लाता है।

प्रतिभा और तेजस्विता, वीरता और उदारता, सहिष्णुता और दयार्द्रता

किसी की क्रीतदासी नहीं हुआ करती और न ही यह किसी की बपौती है। ये सब तो विधाता के उज्ज्वल वरदान हैं, जो विरले भाग्यवानों को नसीब होते हैं।

मैंने सुना है कि महाकवि प्रसाद बनारस की नारियल वाली गली में अपने पिता की दुकान पर बैठकर बचपन में सौदा बेचा करते थे और कोई भी ग्राहक जब सौदा लेने आता था तो उससे ब्रजभाषा में तुकबंदियों में संवाद किया करते थे। तब शायद उनकी इस अजीबो–गरीब हरकत पर हँसने वाले भी रहे हों और प्रशंसक भी–पर अब उन तुकबंदियें की प्रशंसा के सिवाय उपाय भी और क्या है!

बड़ी प्रतिभाएँ पलास की तरह दस दिन में फूलकर दस–बीसों दिनों में उदास नहीं होतीं, वे तो बरगद की तरह जितनी छतनार होती हैं, उतनी जड़ें भी फैलाती हैं और यह काम रातोरात नहीं होता बल्कि आद्यंत होता रहता है। तुलसी को मानस की रचना में दो–ढाई वर्ष लगे पर यह भाव उनके भीतर कब से पल रहा होगा, यह कौन जाने! महाकवि निराला अपने विशाल हृदय में किसी भाव को छिपाकर वर्षो दुलारते थे, तब जाकर उनकी कोई कविता साकार होती थी। तोड़ती पत्थर, कुकुरमुत्ता, भिक्षुक, राम की शक्ति पूजा और तुलसीदास के बीज उनके अंतस् में कब से पड़े कुलबुला रहे होंगे, इसे कौन जाने! इसी भाँति कुँवर सिंह, लक्ष्मीबाई और नाना साहब के हृदय में कब से आक्रोश पल रहा था या फिर मंगल पाण्डेय के हृदय में कब से ज्वाला धधक रही थी कि इतनी बड़ी क्रांति फूटी। बाँस और बबूल के बीज, गूलर और अशोक के फूल सृजन की कौन–सी अदृश्य कथा लिखते हैं, यह केसे कहा जाए!

सच तो यह भी है कि कुछ प्रतिभाएँ विकसने के पूर्व ही समय और परिस्थितियों के पाले खाकर किकुर जाती हैं, किंतु इसमें दोष किसका है इसलिए हमारी भी यह जवाबदेही है कि अपने आस–पास की विलक्षणताओं को लक्षित करें और उनके बढ़ने– विकसने, फूलने–फलने में सहभागी हों; क्योंकि इसी में हमारा उत्थान और कल्याण है।

□

# समरथ के नहिं दोष गुसाईं

मैथिल कोकिल विद्यापति जी ने कहीं लिखा है कि शास्त्र, संगीत और काव्यादि का सृजन और परिवर्द्धन सदैव शस्त्र की छत्रछाया में ही हुआ करता है। मैंने पढ़ा था कि परवर्ती आलोचकों में अनेक को 'अभिनव जयदेव' की यह वाणी अच्छी नहीं लगी और उन लोगों ने इसका पुरजोर विरोध करते हुए महाकवि को धूल-धूसरित करने की पूरी चेष्टा की। जब अपनी बात ऊपर करने का मन हो तो किसी को भी तत्क्षण नीचा दिखाया जा सकता है। महाकवि तुलसी की ही कौन-सी कम आलोचनाएँ हुईं पर क्या अपनी अनोखी विचारधारा बना लेने की कोशिश भर कर लेने से सत्य को झुठलाया जा सकता है। आर्यभट्ट चिल्लाते रहे कि आकाश स्थिर है और धरती घूमती है पर किसी ने एक न सुनी, किन्तु किसी के न सुनने या अनसुना कर देने से सत्य मर तो नहीं जाता।

मैं नारी-निंदक नहीं हूँ और न ही दकियानूसी परंपराओं में मेरी कोई अस्था है पर आजाद ख्याली भी ऐसी नहीं होनी चाहिए, जो सारी सीमाओं और मर्यादाओं का उल्लंघन कर दे। महात्मा तुलसी के नारी विषयक अवधारणाओं पर आज जो आक्षेप किए जाते हैं, क्या वे उचित हैं, क्या इन आक्षेपों को आरोपित किए जाने के पूर्व बड़ी तटस्थता से देशकाल और परिस्थितियों का आकलन-अवलोकन नहीं किया जाना चाहिए था। एक बात तो बहुत साफ और सीधी है कि कोई भी परंपरा

या मूल्य चिरस्थायी नहीं हो सकते पर उनके पीछे का सत्य अवश्य स्थायी होता है। मान लीजिए कि किसी भूखंड में सदैव कड़ाके की सर्दी पड़ती रहती है और वहाँ के लोगों में गले में बोरसी लटकाकर चलने की परंपरा है, अब यदि उस भूखंड में किसी भी तरह निरंतर गर्मी ही गर्मी पड़े तो भी क्या लोग अपनी पुरानी परंपरा का पालन करते रहेंगे? किसी भीषण जनसंख्या वाले देश और अपेक्षाकृत आवश्यकता से कम जनसंख्या वाले देश के विधान और व्यवहार क्या एक ही जैसे होंगे! कहने का गरज यह कि मान्यताएँ बदल सकती हैं और उन्हें बदलना भी चाहिए पर सत्य अपनी जगह पाँव पसारकर सदैव स्थिर बैठा रहता है, कितना भी हिलाओ, वह टस से मस होने का नाम नहीं लेता है।

सामर्थ्यवानों की वैदिक युग में भी चलती थी, विद्यापति और तुलसी के युग में भी चली और अब भी चलती है। स्वयं को बली समझकर देवता राक्षसों को आँख दिखाते थे और वरदान पाकर राक्षस बली हो जाते थे। मुगलों ने राजपूतों को ढेर किया और राजपूतों ने उनकी गद्दी हिलाने की कोशिश की। आज अमरीका और चीन जैसे देशों के ऊपर जो भूत सवार है, वह सबलता के सिवा और क्या है; दूर की जाने दीजिए, आप पास-पड़ोस में ही नजरें दौड़ाइए, सारा नजारा सामने सरक आएगा। कभी सैन्य बल, राजबल और नीति बल प्रमुख था, आज अनीति-बल और धनबल प्रमुख है। सामर्थ्यवानों के समक्ष सच्ची बातें न तब कही जाती थीं, न अब कही जाती हैं। तब तो आचरण, मर्यादा और आत्मगौरव का भी ख्याल था, अब तो उसकी भी तिलांजलि दी जा चुकी है।

आज हमें कोई कितनी भी लगती बातें क्यों न कहे, औरों के समक्ष हमें पानी-पानी क्यों न कर दे, हमारी पगड़ी को अपने जूते तले दबाकर तार-तार क्यों न कर दे; हमारी नजर उसकी चाँदी के सिक्कों से भरी जेब पर ही टिकी होती है और हम उसकी हाँ में हाँ मिलाकर ही धन्य-धन्य होते हैं।

□

# सहिष्णुता का अर्थ

आजकल हमारे देश में एक अलग प्रकार की शब्दावली विकसित हो रही है। धर्म निरपेक्ष, तटस्थ, आत्मचिंतन, संप्रदाय, गरीबी रेखा आदि ऐसे अनेक शब्द हैं, जो बहुप्रयुक्त और बहुप्रचलित हैं। इनमें अधिकांश तो ऐसे हैं, जो हमारी भाषा ही नहीं बल्कि हमारी संस्कृति के भी सच्चे संवाहक रहे हैं, किंतु इन शब्दों को अब जिस प्रकार और जिस मकसद से प्रयुक्त किया जाता है, वह थोड़ी चिंता की बात है। खासकर सहिष्णुता शब्द पर जिस तरह की चर्चा छिड़ी है और इस नितांत साधु शब्द से जो स्वार्थ साधने की कोशिश की जा रही है, वह बड़े आश्चर्य और दुख की बात है।

सहिष्णुता महज एक शब्द मात्र नहीं बल्कि हमारी संस्कृति है। वेद, पुराण, इतिहास, रामायण, महाभारत से लेकर कबीर, रहीम रसखान और मीरा के हृदय तक इसका पसारा है, किंतु इस सात्विक और कल्याणकारी शब्द और उसके अर्थ को लेकर जो झमेले खड़े किए जा रहे हैं, ईश्वर उससे बचाए रखें तो ही भलाई है। यह सभी जानते हैं कि सहिष्णुता सहनशीलता, धैर्य, मेल-भाव और उदारता का ही समगोत्री है। किंतु क्या सहकर रह जाना मात्र ही सहिष्णुता है या फिर किसी की गालियाँ, घुड़की और लताड़ के नीचे दबा रहना भी सहिष्णुता है?

निस्संदेह सहिष्णुता का अर्थ इनसे काफी भिन्न है। जब हम परिवार और समाज में, देश और दुनिया में दूसरों की समस्याओं,

इच्छाओं, भावनाओं आदि की कद्र करते हुए उनकी क्रिया- प्रतिक्रिया को उदारता और प्रसन्नता से स्वीकारते हैं तो सहिष्णुता सरूप होती है; किंतु इस स्वीकार में यदि हमारा कोई निजी स्वार्थ, निजी आकांक्षा या व्यक्तिगत उद्देश्य- पूर्ति छिपा हो तो हम इस स्वीकृति को सहिष्णुता की संज्ञा नहीं दे सकते।

आजकल राजनीति में अनेक नई बातों और तौर-तरीकों की ईजाद कर ली जाती है। मतदान के समय या फिर ऐसे ही अनेक अवसरों पर हम तरह- तरह की तख्तियों पर कुछ विचित्र से अविश्वसनीय श्लोगन टाँककर सड़कों, चौराहों और गलियों को शोभायमान करने की जुगाड़ लगाते हैं। मसलन 'हिंदू- मुस्लिम-सिक्ख-ईसाई, आपस में हैं भाई-भाई'। आप सोचिए कि यह सब कितनी लजास्पद बातें हैं। जब हम आपस में भाई हैं, तो भला कहने की जरूरत क्या है और अगर नहीं हैं, तो कहने मात्र या चिल्लाने से हो जाएँगे? क्या हम अपने माता-पिता, भाई-बहन या किसी सगे-संबंधी को ऐसा कहते हैं कि सुनिए आप मेरे फलाना हैं? अगर ऐसा नहीं कहते हैं तो फिर यह कहने का क्या औचित्य है कि हम सहिष्णु हैं अथवा अमुक-अमुक को भी सहिष्णु होना चाहिए।

सच तो यह है कि ऐसी लज्जास्पद हरकतें करते हुए हम भूल जाते हैं कि हमारी मिट्टी में सहिष्णुता की गंध और उसका रस है। हम आपस में हँसते-रोते, लड़ते-झगड़ते, मिलते-मिलाते पले-बढ़े हैं और हमारी यह गंगा-यमुनी धारा कभी सूखने वाली नहीं है, भले हम उसके अर्थ का कितना भी अनर्थ करते रहें।

□

# जीवन और मृत्यु

जीवन में मृत्यु!! असहज तो होते ही हैं, इन विषयों पर! सुन के भी अजीब-सी सनसनाहट महसूस करते हैं! जब जीवन है तो मृत्यु केसे ? जब मृत्यु है, तब जीवन केसे?

समझना होगा, हम जब भी जीवित को परिभाषित करते हैं, उसकी व्याख्या, साँसें, वाणी, देखना आदि से परिभाषित करते हैं। जिस व्यक्ति में उपर्युक्त लक्षण नहीं हो, उन्हें हम मृत मानते हैं। अब सोचिए, उपर्युक्त लक्षणों के साथ कोई व्यक्ति अगर मस्तिष्क शून्य हो, क्या उसे हम जीवित कहेंगे? जीवितता तो तब परिभाषित होती है, जब सारे लक्षणों के साथ मस्तिष्क भी गतिमान हो!

उपर्युक्त लक्षणों में हम स्पन्दन की बात करें, वह शारीरिक है, साँसें भी नासिका और हृदय से जुड़ी हैं, देखना भी आँखें नियमित करती हैं, वाणी भी कंठ और अधरों से नियमित है। जब सब कुछ किसी दूसरे माध्यम पर निर्धारित हो, हम उस उहापोह में व्यक्ति को केसे जीवित मान लें? अंग जीवित हो सकते हैं, शरीर जीवित हो सकता है, 'व्यक्ति' की जीवतंता केसे समझे? व्यक्ति तो तब जीवित होगा, जब कोई पूर्णता में जी सके! कोई भी एक अंग की मृत अवस्था किसी व्यक्ति को पूर्ण जीवतंता में केसे रख सकती है। रही बात वाणी की, हम तब बोलते हैं, जब हमारा अन्तः भर उठता है, जब भी कोई चीज भर जाए, तो वहाँ शवस्थितता उत्पन्न होती है। मतलब यह कि किसी न किसी

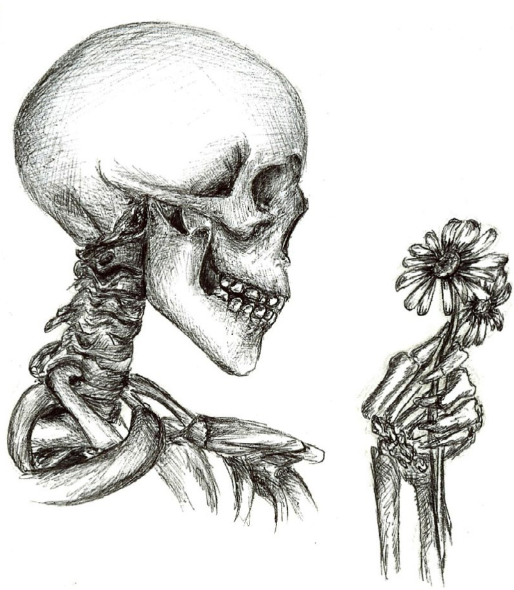

रूप से जब हम मृत होते हैं, तब वाणी की जिजीविषा उठ पड़ती है। एक 'मौन' में असंख्य आत्माओं का निवास होता है। मौन कभी भी आकस्मिक नहीं हो सकता, मौन निश्चित रूप से पूर्णता का द्योतक है। मौन व्यक्ति में सारे अंग जीवित होते हैं, शरीर जीवतंता को परिभाषित करता रहता है। व्यक्ति का चेतन मस्तिष्क भी अवचेतन रूप में दस दिशाओं में भ्रमण कर सकता है। मतलब यह कि मौन में गति भी है, जिसका अभाव एक जीवित में हो सकता है। शारीरिक रूप से जीवित होना एक बात है, मौन रूप से सकल जीवित होना एक विलक्षण बात साबित हो सकती है।

मौन में जीवन, वाणी में मृत्यु! केसे नहीं समझोगे? जब भी वाणी का प्रकार होगा, किसी की मृत्यु होना निश्चित है। मृत्यु केवल साँसों का रुकना ही नहीं, भावनओं का मरना भी हो सकता है। अगर तारीफ करें, तो भी तो मृत्यु हुई! शिकायतों की, दुर्भावनाओं की असहनशीलता की! मृत्यु हुई तो! ये बात दीगर है या इस पर बहस नहीं होनी चाहिए कि गलत बातों की मृत्यु होना अच्छी बात है। मैं बस मृत्यु की विवेचना करने की कोशिश में हूँ।

व्यक्तित्व, एक ऐसा पहलू है जिसे वस्तुत: हम अपनी जिजीविषा से जोड़ पाते हैं। लेखनी एक ऐसा सामंजस्य स्थापित कर उठती है, जिसे चाहे-अनचाहे हम अपने अन्तर्मन की यात्रा पर निकल तो पड़ते

ही हैं, उसे अपने जीवन की ओर आत्मसात करने की ओर अग्रसारित भी कर बैठते हैं।

जीवन की बिडंबना देखिए, जिस जीवन को पाने के लिए लाख योनियों से गुजरना पड़ता हो, उसे हम बस यूँ ही गंवाना चाहते हैं, जैसे कुछ मिला भी नहीं। जब भी जीवन के मोतियों को चुनने की बारी आई है, हमने हमेशा से मोतियों से इतर, उसके कवच की गुणवत्ता जांचनी चाही है। कवच से मोतियों का क्या सरोकार? जब भी हमने कवच को देखना या समझना या जांचना चाहा है, हमने इस भावरहित प्रक्रिया यें, मोतियों को दरकिनार किया है, साथ ही मोतियों के औचित्य को नकारा भी है! क्योकि अगर जिज्ञासु मन मोतियों की तलाश में है, वह कभी भी कवच के पीछे अपना श्रम या समय जाया नहीं करेगा। कवच की आनुवांशिक जांच वही करते हैं जिनके जीवन में ही, मूलता से इतर कोई और केन्द्र बिन्दु अवस्थित हो उठता है, जिसका निर्धारण स्वतः नहीं होता, वरन एक कठिन, कठोर और श्रमसाध्य मानसिकता के तहत नकारात्मक ऊर्जा उसका निर्धारण और पोषण करती है। रही बात ऊर्जा की, तो सर्वज्ञात है कि ज्योंहि ऊर्जा की अक्षुण्णता को हम अंगीकार करते हैं या स्वीकारते हैं, ऊर्जा अपनी पूर्णता में फलीभूत हो सृजन कार्य को चरमता की ओर ले जाती है। यह कहना इसलिए आवश्यक है कि ऊर्जा को संवेदना से जोड़ना कुछ वैज्ञानिक मस्तिष्क को अटपटा लगता हो परन्तु यह कहना भी सत्य है कि बिना संवेदना और मनोभावों के ऊर्जा को किसी भी रूप में चलायमान नहीं किया जा सकता। ऊर्जा जब भी अपनी गतिशीलता लेकर पूर्ण होती है, सृष्टि का काल-चक्र अपनी धुरी पर विकेंद्रित हो चलाययान हो उठता है।

□

# वर्तमान राजनीति और राष्ट्रवाद

आजकल राजनीति शब्द सुनकर मन के किसी कोने में एक संदिग्ध विचार कौंध उठता है, ठीक उसी प्रकार राष्ट्रवाद का स्मरण होते ही किसी बड़ी बहस का भयानक दृश्य अचानक प्रत्यक्ष हो जाता है। यदि देखा जाए तो राष्ट्रवाद का सीधा-सरल अर्थ है, वह वाद या विचारधारा जिसमें राष्ट्र का हित सर्वोपरि हो। अब, यदि राजनीति शब्द को उसके साफ-सुथरे अर्थ में भी स्वीकार किया जाए तो उसमें राष्ट्रहित या कल्याण की बात न के बराबर है। राजनीति शब्द पॉलिटिक्स का हिन्दी पर्याय है, जो ग्रीक भाषा के पॉलिस (नगर-राज्य), पॉलिट्री (सरकार) तथा पॉलिसिया (संविधान) शब्दों के योग से निर्मित है, जिसमें राज्य तो है, सरकार और संविधान भी हैं, किंतु कल्याण कहीं नहीं है। वस्तुतः राजनीति शब्द राष्ट्रनीति का व्यंजक न होकर नगर या क्षेत्र-विशेष के शासक (राजा) की शासन-नीति भर है, जबकि राष्ट्र स्वयं में एक व्यापक शब्द है। यद्यपि सुविधा के लिए इसे राज्य, देश या कौम का पर्याय माना जा सकता है, किंतु राष्ट्र शब्द का वास्तविक अर्थ है, उस भूखंड विशेष का जनसमूह तथा अन्य सभी। किसी भूखंड विशेष के प्राणी-पदार्थ, उसकी भाषा-संस्कृति, उसके आचार-विचार, रूप-स्वरूप आदि में जो खास प्रकार की एकरूपता है, उनकी सम्मिलित छवि का नाम है राष्ट्र। और, उन सबों के कल्याण और उत्कर्ष के लिए जो परस्पर के प्रयत्न हैं, वह है राष्ट्रनीति और इन

तमाम प्रयत्नों और विचारों की जो भावानात्मक और हार्दिक स्वीकृति है, सच्चे अर्थों में उसी का नाम है–राष्ट्रवाद।

मेरी समझ में राष्ट्रवाद को एक विशेष विचार, सिद्धांत या नीति कहना अत्यंत भ्रामक है, क्योंकि इसे समाजवाद गाँधीवाद, मार्क्सवाद आदि सिद्धांतों के परिप्रेक्ष्य में देखना एक भारी भूल होगी। राष्ट्रवाद को नारा, आंदोलन या विचार की तरह स्वीकारना बिलकुल उचित नहीं है, क्योंकि यह तो उस भूखंड विशेष के जनमानस की अंतस चेतना है। यहाँ हमें यह भूलना नहीं चाहिए कि एकता का संबंध विचारों से न होकर भावनाओं से होता है, गरज यह कि वैचारिक एकता हो जाने पर भी वह सदैव बनी नहीं रह सकती किंतु भावनात्मक एकता अक्सर दीर्घजीवी होती है। आशय यह कि राष्ट्रीय एकता को बनाये रखने में विचारों का महत्व कम और भावनाओं का अधिक हुआ करता है। मान लीजिए कि एक ही परिवार के लोगों में वैचारिक ऐक्य नहीं है, किंतु जब उन लोगों में किसी एक पर आपत्ति–विपत्ति आती है तो सारा परिवार एक हो जाता है। राष्ट्र के साथ भी वही बात है। कदाचित यही कारण है कि चीन और पाकिस्तान से लड़ते हुए भारतीयों ने आपसी सारे भेद–भाव भुलाकर अद्‌भुत एका का परिचय दिया। गौरतलब है कि यह एका उचित भी हो सकता है और अनुचित भी, क्योंकि राष्ट्र को जोड़ने में जितना महत्त्व उपयोगी, फलदायी और शुभंकर चीजों का होता है, उतना ही अनुपयोगी, कुफलदायी और हानिकारक वस्तुओं का भी। यदि शंकराचार्य, बुद्ध और गाँधी की मूर्तियाँ देश को जोड़े रख सकती हैं तो केरल की सुपारी और बिहार की बीड़ी भी एक कोने से दूसरे कोने को जोड़ने में सक्षम हैं। हमारे विविधतापूर्ण भारत की जो आसेतुहिमालय अखंडता है, उसमें उपर्युक्त दोनों का योग है।

सबसे चिंताजनक बात तो यह है कि आज राष्ट्रीयता की ओट में राजनीति का घिनौना खेल ही ज्यादा चल रहा है। कितने दुख की बात है कि इस पुण्यभूमि भारत के मनुजमात्र की जो सहज भावना है, उससे खेलकर मुट्ठी भर लोग अपने तुच्छ स्वार्थों को साधना

चाहते हैं। राष्ट्रीयता एक अखंड भावना है और राष्ट्रवाद हमारी सहज चेतना, किंतु जब हम इसे खंडों में विभाजित कर सांस्कृतिक राष्ट्रवाद, वैचारिक राष्ट्रवाद, हिन्दू राष्ट्रवाद आदि नामों का अपने मन माफिक जामा पहनाना चाहते हैं तो देश की भोली- भाली जनता चकमे में पड़कर दिशाहीन होने लगती है।

हमारी इन संकीर्णताओं को गाँधी जी ने ठीक- ठीक परखा था। उनकी चिंता यह थी कि सब स्वयं के हित की बात करते हैं, पूरे राष्ट्र की बात कोई नहीं करता। यदि पंजाबी, बिहारी, बंगाली या गुजराती आदि अपने राज्य या क्षेत्र-विशेष को अपना मानते हैं तो आखिर यह देश किसका है। क्या आज की राजनीति क्षेत्रीयता को महत्त्व देकर सांप्रदायिक और सीमित राष्ट्रीयता का सूत्रपात करना चाहती है, क्या हम एक बार फिर स्वतंत्रता पूर्व भारत की तस्वीर खड़ी करना चाहते हैं और फिर से छह सौ रजवाड़ों और रियासतों में देश को बाँटकर वल्लभ भाई पटेल के भगीरथ प्रयास को मटियामेट करना चाहते हैं?

मैं समझता हूँ कि राजनीति की ओट में जाति, धर्म, संप्रदाय, क्षेत्र आदि के नाम पर यह सब जो ऊपर -ऊपर चल रहा है, उसकी जड़ में हमारी ही बनायी नीतियाँ हैं। हम किसी वर्ग, जाति या क्षेत्र-विशेष को तुष्ट करने के लिए अलग नीति बनाते हैं और शेष के लिए अलग। ऐसी नीतियाँ न तो ज्यादा वैज्ञानिक हैं और न व्यावहारिक। सबसे बुरी दशा तो हमारी शिक्षा-नीति की है। आज देश में जितने राज्य हैं, उतने ही पाठ्यक्रम और शिक्षा-बोर्ड। सच तो यह है कि एक ही राज्य में तकरीबन आठ-दस शिक्षा-बोर्ड हैं, जो अपने मन मुताबिक भिन्न-भिन्न पाठ्यक्रम चलाते हैं। अकेले बिहार में ही न जाने कितने शिक्षा-बोर्ड हैं, दूसरे तथाकथित उन्नत राज्यों की तो दशा और भी बुरी है। इन अलग-अलग पाठ्यक्रमों और शिक्षा नीतियों का हमें भयंकर परिणाम भोगना पड़ रहा है। मान लीजिए कि राजस्थान के किसी शिक्षा-बोर्ड के पाठ्यक्रम के अधीन अध्ययन करने वाला कोई बालक या किशोर महाराणा प्रताप के महत्त्व और उनकी राष्ट्रीयता से भली-भाँति परिचित

है, किंतु वीर कुँवर सिंह जी को नहीं जानता तो क्या बाद में चलकर कुँवर सिंह के प्रति उसके हृदय में उतनी ही श्रद्धा उमड़ पायेगी जितनी की महाराणा के प्रति है? यही बात गुजरात, बंगाल, उड़ीसा और केरल के पाठ्यक्रमों को आत्मसात करने वाले बालकों और किशोरों के संदर्भ में भी लागू हो सकती है। हमें सोचना यह चाहिए कि आज देश के बड़े विश्वविद्यालयों में जो राष्ट्रविरोधी नारे लग रहे हैं, क्या उसकी जड़ में हमारी असमान शिक्षा-व्यवस्था तो नहीं है या फिर असमान विचारधारा मात्र के कारण भर से तो कहीं हम उन नारों को राष्ट्रविरोधी मानने पर तूले हुए तो नहीं हैं। बहस में पड़ना अलग बात है और तटस्थ विश्लेषण बिलकुल अलग। अतः यहाँ यह संकेत-मात्र ही उचित होगा कि हमारे रहनुमाओं को निजी हितों से ऊपर उठकर आत्मचिंतन करना चाहिए।

दर्पण का धर्म सत्य को प्रदर्शित करना है और दीपक का मार्ग दिखाना। किंतु, दुर्भाग्यवश हमारा साहित्य, हमारा धर्म और हमारी राजनीति- सब के सब आज लक्ष्य-भ्रष्ट हो रहे हैं। आज खेमाबंदी, सांप्रदायिकता और क्षेत्रीयता का बोलबाला है। आज की राजनीति में वह सब हो रहा है, जो कभी नहीं होना चाहिए। संसद से सड़क तक और झोपड़ी से महल तक एक ही स्वार्थराग सुनाई दे रहा है। कहने को तो आज देश का बच्चा-बच्चा राजनीति और राष्ट्रधर्म जानता है, सहिष्णुता और राष्ट्रवाद जैसे जानबूझकर बनाये गये सामयिक विषयों पर परिचर्चाएँ करता है, नुक्कडों, संगोष्ठियों और स्टूडियो में इन विषयों पर खुलकर विचार व्यक्त करता है, किंतु राष्ट्रनीति और स्वधर्म की बात कोई नहीं करता।

बात दरअसल यह है कि कहने को तो हम स्वतंत्र हो गये, किंतु अंग्रेजी दासता की छाप आज भी हमें परेशान कर रही है। हम अपनी परंपरा और प्राचीनता में अच्छाइयाँ खोजने के बजाय पश्चिम की ओर टकटकी लगाए बैठे हैं। वैज्ञानिक विकास की बात और है, क्योंकि तकनीक हम किसी की ले सकते हैं: किंतु आत्मिक उत्थान के लिए

तो अपनी जड़ों से ही रस खींचना होगा। हमारी आज की राजनीति सत्ता–सुख और स्वार्थ–साधन की नीति है, इसमें राष्ट्र और उसका हित लेशमात्र भी नहीं है। वोट–बैंक बढ़ाने के लिए नीचता पर उतारू होना न तो राजनीति है और न राष्ट्रनीति। यदि सच कहा जाए तो यह अनीति पर आधारित एक समझौता के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है।

कलियुग में शक्ति संगठन में निहित है। 'संघे शक्तिः कलौयुगे' किंतु इसका यह अभिप्राय नहीं कि येन–केन प्रकारेण संगठित होकर हम राष्ट्र (जनसमूह) का हृदय जीत लेंगे। वास्तविकता तो यह है कि राष्ट्र की शक्ति स्वयं उसी में निहित है, जिसके अधिग्रहण या संचालन के लिए स्वतंत्रता, समता और भ्रातृत्व की भावना निहायत जरूरी है। इस प्रकार जिस नीति में सबका सहयोग, सबका हित और सबका सुख निहित हो, वही राष्ट्रनीति है। और, जिस वाद या विचारधारा

में सर्वकल्याण का भाव प्रमुख हो वास्तव में वही राष्ट्रवाद है।

राष्ट्रकवि दिनकर के शब्दों में–

**शांति नहीं तब तक, जब तक**
**सुखभाग न सबका सम हो।**
**नहीं किसी को बहुत अधिक हो,**
**नहीं किसी को कम हो।**

□

# बरसात पर, मनोभावों की अभिव्यक्ति

एक सहमा-सा डर!! बरसात पर,
मनोभावों की अभिव्यक्ति-
एक सहमा-सा डर!!

ऐ वक़्त, जरा ठहर... ज़रा सहम,
क्या पता, क्या बचा...
क्या रहा अधूरा...!
वक़्त ने तो दिया था सभी को,
एक सा सहारा।
वक्त-वक़्त की चाल है,
बेमिसाल भी बेहाल है...!
अगर कुछ और भी बचा,
तो वक़्त ठहर ही जा।
कुछ और भी विध्वंस, अगर कहीं...,
निपट ले, यहीं ज़रा।
कल की कौन जाने,
क्या पता, वो किसकी सुने...,
अगर चलो उस पार प्रिये...,
पावन-परिणय सा हो भला...!

सुबह की बूँद-बूँद में ओस हो,
हर ओस में एक आस हो।
एक आस सा अहसास हो,
अहसास में तुम प्राण प्रिये···!
नव-वर्ष में तुम प्राण प्रिये,
वक्त को ही साध चलो,
ग़र वक़्त साधन हो चले,
अहसास में सब प्राण प्रीतम।
सब प्राण प्रीतम जहाँ बस चले,
मनोभाव का संसार तुम।
जहाँ संसार ही प्राण प्रिये,
बस यूँ ही बसो, नव-वर्ष तुम।
ताकीद है, यह वर्ष तुम्हें,
छोड़ न जाओ कोई प्राण यहाँ···!
गर गम अगर भी साथ हो,
ठहर जा, सहम जा तू वर्ष यहीं।
जब पाक हो, तेरा ज़मीर,
फिर कहे बिना आ जाना तुम···,
विश्वास रखो, हम हो न हो···,
पर प्राण प्रियों की फ़ौज सब,
गर आलिंगन बद्ध हो जाये, सब
फिर भी मौन ही हँसना तुम।
ऐ वक्त, ज़रा ठहर, ज़रा सहम···!

□

# जिजीविषा

समय कटु हो चला,
तिमिर न भेद पाये तुम।
काल–त्रिकाल सुकाल हुआ,
तटबंध वेग रुका नहीं।
तिमिर मानस प्राकट्य हुआ,
प्रकांड–प्रभात जिजीविषा।
श्लाघ्य कदम उद्वेल–सा,
अगणित कदम माँ भारती।
जीव–प्राण तुम प्राण–प्रीतम,
मंद–सुमंद प्रबुद्धतम्।
किरण उबाल ले चुका,
लालिमा प्रतीत पंथ।
मन–प्रीत सा धवल–धरा,
आशीष दे माँ भारती।
राष्ट्र प्रबुद्ध संचाल से,
वागेश्वरी कृतार्थ हुई।
मानस उद्वेल निष्कपट,
संस्कृति–समृद्धि–संस्कार तुम।
काल–सुकाल श्लाघ्य हो,

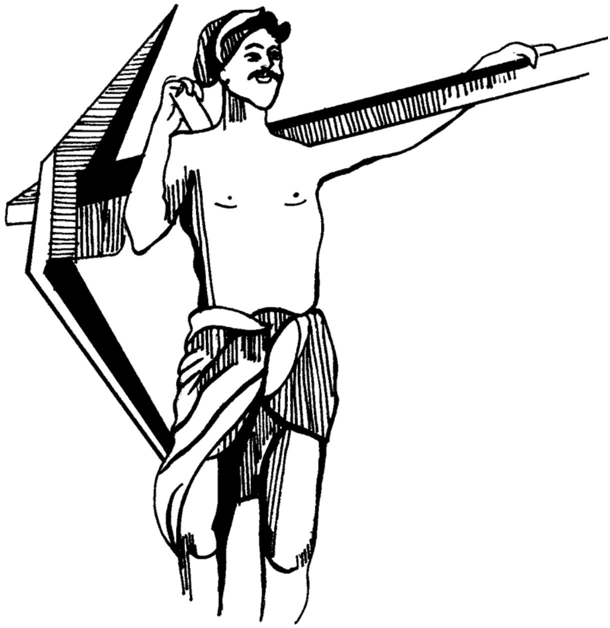

त्रिकाल–पट धनुष–ध्वला।
माँ तुम अमर्त्य हो,
प्राण–प्रिय की साँस तुम।
तिमिर–भेद उद्‌बोध हुआ,
सूर्य किरण का मिठास तुम।
जीव–प्राण की आस ने,
जनम दिया, एक पाश को।
जिन पाश संग हम जी न सके,
उस जनम से ही प्रीत–भाव किया।
प्रीत–भाव की प्रीत ही न समझ सके,
तिन मन को ही विश्वास दिया।
जब विश्वास ही नियति बना,
नियत ने ही विश्वास किया।
राष्ट्र सु–बेला नियत हो,

बेला ने पी को अंगीकार किया।
देश–धर्म की जिजीविषा,
राष्ट्र–धर्म को अपनाने दो।
जी से जीवन पूरण हुए,
जी कर तो जीवन गाने दो।

□

# ख्वाहिशें

ख्वाहिशें…अधूरी सी…।।
तुमने देखा तो सही,
भले ही कशिश के बिना।
गर कशिश न दिखी।
तो पैगाम कहाँ से लाऊँ?
एक चुन्नट सी उड़ी तुम्हारे बदन से,
लगा, पहाड़ों ने मुकां पा लिया है।
गर झीलों ने रोका है, पानी अपना…,
बस तेरी आँखों की जुस्तजु हो चली है।
कुछ कह न सके लबो से अपनी,
मुस्कानों ने ओठों को दबाया है।
कमनीय को देख न सके हम
तराश की बलिहारी है।
मैले हुए जाते हैं मेरे अरमां,
साँसों ने करीब से गरमाहट को सुना है।
गर काफ़िर भी बन सके हम,
मंज़िलें भी अफ़ज़ाई हैं।
शौक ए मोहब्बत भी रंग गया हमें,
किसी रंगरेज़ ने पकिया लगाई है।

तेरी काया जिस्म से फ़ना हो सके,
ऐसी फितरतों ने क़यामत लायी है।
तेरे बोल भी उड़े फ़िज़ा में,
इश्क ने भी मतलबों की कसमें खायी हैं।
बस ये जुस्तजु भी लेते जाओ,
किसी क़ायनात को देख,
किसी दीवाने की हम–सफ़री का,
ईश्तकबाल सहेज लेना।
न जाने किस मुकां···,किस मंज़िल···,
कोई बे–गैर बैठा हो···!
महाभारत के संजय के संजय से उतरी,
शिवाजी ने कहा अप्रील का खूबसूरत फूल,
अप्रैल ओनल···।

□

# भरोसा

चहकती थी, फुदकती थी,
चहुँ ओर बिखेरती थी,
अपनी खुशबू और दरियादिली।
ईश्वर भी खुश हुआ था,
अपनी खुशियों की पोटली,
जमीं पर भेज कर।
तू तो जीव से लड़ने वाली थी,
खुद से ही केसे हार गयी···?
कहीं ऐसा तो नहीं कि,
हमारे पुरुषार्थ से तुम्हारा भरोसा टूट गया हो···?
मैंने देखा है तुम्हें, जलते हुए···,
तुम्हारी चिता की तपिश में,
आत्माओं को मरते हुए।
हम खड़े बस तमाशाई बने रहे,
शायद किसी और चिता की तपिश की तलाश में।
यकीं है,
तुम कभी तो आओगी।
इस घर न सही,
किसी घर ही सही।

हमारे शब्द भी खत्म और,
मोमबत्तियां भी खत्म।
अँधेरे में ही सही,
क्षण में ही सही
कभी तो आना और हमें दीप्त कर जाना,
क्योंकि हमने तो तुम्हें जलाया है, मोक्षदा में।
कर्मकाण्ड भी किये हैं।
हो सके तो,
हम कायरों को माफ़ कर देना,
तुम्हें न तो समझ सके,
और न ही बचा सके।
ओ री चिरैया, अंगना में फिर आजा रे''''

□□□